सुखी होने का उपाय

भाग - 3

नेमीचन्द पाटनी

दो शब्द

आदरणीय पाटनी जी द्वारा लिखित 'सुखी होने का उपाय' नामक इस कृति की विषय-वस्तु चार भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में पर से भिन्न भगवान आत्मा की चर्चा है, दूसरे भाग में पर्याय से भिन्न, गुणभेद से भी भिन्न भगवान आत्मा की चर्चा है, तीसरे भाग में पर, पर्याय और गुणभेद से भी भिन्न निज भगवान आत्मा की प्राप्ति की प्रायोगिक साधना की बात तथा चौथे भाग में यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्व से ज्ञेयतत्व के विभागीकरण पर चर्चा की गई है।

भेद विज्ञान मूलक इस कृति के प्रथम भाग में समस्त पर पदार्थों से हटाकर प्रमाण के विषयभूत गुण पर्यायात्मक निजद्रव्य में लाकर स्थापित करने का प्रयास है; दूसरे भाग मैं अपनी आत्मा में ही उत्पन्न विकारी-अविकारी पर्यायों एवं अनन्त गुणों के विकल्पों से पार त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा तक पहुँचाने का प्रयास है। तीसरे भाग में इस विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय की निर्विकल्पक परिणती कैसे हो- यह बताने का प्रयास किया गया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि पाटनी जी ने अध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का समागम पूरी श्रद्धा और लगन के साथ लगातार ४० वर्ष तक किया है। वे भाषा के पण्डित भले ही न हों, पर जैन तत्वज्ञान का मूल रहस्य उनकी पकड़ में पूरी तरह है। स्वामी जी द्वारा प्रदत्त तत्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के काम में वे विगत तीस-पैंतीस वर्षों से नींव का पत्थर बनकर लगे हुए हैं; विगत २२ वर्षों से मेरा भी उनसे प्रतिदिन का घनिष्ठ सम्पर्क है। अतः उनकी अन्तर्भावना को मैं भली-भांति पहचानता हूँ।

अभिनन्दन पत्र भी न लेने की प्रतिज्ञावद्ध श्री पाटनी जी ने यह कृति लेखक बनने की भावना से नहीं लिखी है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धि के लिए ही उनका यह प्रयास है; उनके इस प्रयास से समाज को सहज ही सम्यक् दिशाबोधक यह कृति प्राप्त हो गई है।

यह कृति चार भागों में प्रकाशित हो चुकी है। तीसरे भाग का यह द्वितीय संस्करण पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। उनके भाव आप सब तक उनकी ही भाषा में हूबहू पहुँचें- इस भावना से उसमें कुछ भी करना उचित नही समझा गया। अतः विद्वज्जन भाषा पर न जावें, अपितु उनके गहरे अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठावें-ऐसा मेरा विनम्र अनुरोध है।

अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करने का अनुरोध मैं उनसे समय-समय पर करता रहा हूँ, तथापि उन्होंने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया; वे तो आचार्यों के मूल ग्रंन्थों, स्वामी जी के प्रवचनों और उनके आधार पर तैयार की गई विद्वानों की कृतियों के प्रकाशन और प्रचार-प्रसार में ही लगे रहे; अब जब शरीर शिथिल हो रहा है और दौड़-धूप सहज ही कम होती जा रही है, तब अपने उपयोग की शुद्धि के लिए उनका ध्यान इस ओर गया है। हम उनके स्वस्थ एवं मंगल जीवन की कामना करते हैं, कि जिससे उनकी सेवाओं और कृतियों का अधिकाधिक लाभ मुमुक्षु समाज को प्राप्त हो सके।

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक "सुखी होने का उपाय" भाग ३ है। इसके पूर्व, प्रथम भाग अप्रेल सन् १९९० में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् द्वितीय भाग दिसम्बर सन् १९९१ में प्रकाशित हो सका। अभी यह तृतीय भाग हो रहा है।

मैंने ये सभी रचानाएं मात्र अपने उपयोग को सूक्ष्म एवं एकाग्र कर जिनवाणी में ही रमाये रखने की दृष्टि से की है। इसी कारण इनके सभी प्रकरणों की रचना अलग-अलग समय पर, जब-जब उपयोग खाली हो सका, टुकड़ों-टुकड़ों में की गई है। फलतः इसमें पुनरावृत्ति भी हुई है। भाषा साहित्य का ज्ञान नहीं होने से वाक्य-विन्यास तथा वाक्यों का जोड़-तोड़ भी सही नहीं है। अतः पाठकगणों को इस दृष्टि से इसमें कमी लगेगी। इसके अतिरिक्त भी अन्य कमियों को गौण करते हुये पाठकगण इस पुस्तक द्वारा प्रतिपाद्य विषय पर लक्ष्य रखते हुये अध्ययन करेंगे तो मैं मेरा श्रम सार्थक समझूँगा।

उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम भाग में, छह द्रव्यों के अनन्तानन्त द्रव्यों की भीड़-भाड़ में खोई हुई हमारी स्वयं की निजआत्मा की, अनेक उपायों के द्वारा भिन्नता पहिचानकर, अपनी कल्पना से माने हुए अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्धों को तोड़कर, अपनी स्वतंत्र सत्ता स्वीकारते हुये, अपने-आप में श्रद्धा जागृत करने का निम्न उपाय बताया था —

"जगत् के सभी द्रव्य उत्पाद-व्यय-धौव्ययुक्तंसत् हैं" उन ही में, मैं भी स्वयं एक सत् हूँ। मेरी सत्ता मेरे स्वचतुष्टय में है अतः मेरी सत्ता में किसी का प्रवेश, हस्तक्षेप है ही नहीं एवम् हो सकता भी नहीं। ऐसी स्थिति में मुझे भी जगत् के किसी भी द्रव्य के कार्यों में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करने का अधिकार कैसे हो सकता है? इसप्रकार जगत् के

सभी द्रव्यों के परिणमनों से मेरा कोई संबंध नहीं रहने के कारण, वे मेरे लिये मात्र पर, उपेक्षणीय एवं ज्ञेय मात्र हैं। अतः उनके परिणमिनों के कारण मेरे को कोई प्रकार की आकुलता उत्पन्न होने का कारण ही नहीं रहता। मेरी आत्मा का भला अथवा बुरा अर्थात् हानि अथवा लाभ पहुंचाने वाला एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ उसीप्रकार मेरा सुधार भी मैं स्वयं ही कर सकता हूँ। अत: मुझे मेरे में ही मेरे कल्याण के लिये अनुसंधान करके यथार्थ मार्ग खोजना पड़ेगा एवं अपने में ही प्रगति करनी पड़ेगी।"

उपर्युक्त श्रद्धा जाग्रत कर लेने पर आत्मार्थी अपने आत्म द्रव्य में ही यथार्थ मार्ग खोजना प्रारम्भ करता है। अत: अन्तर्दशा के अनुसंधान की विधि उपर्युक्त पुस्तक के भाग-२ में "आत्मा की अन्तर्दशा, तत्त्व निर्णय एवं भेद विज्ञान।" के शीर्षक पूर्वक आत्मा में अनुसंधान करने का उपाय बताया गया था।

"उसके माध्यम से आत्मा, जब अपनी अन्तर्दशा का अनुसंधान करता है तो वहाँ उसको एक ओर तो त्रिकाली, स्थायी भाव, ऐसा 'ध्रुवांश' दिखाई देता है और दूसरी ओर क्षण-क्षण में बदलता हुआ परिवर्तनशील-अस्थाई भाव, 'पर्यायांश' दिखाई देता है।आचार्यों ने भी द्रव्य की अर्थात् सत् की परिभाषा भी "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" ही बताई है। उक्त सत्रूप द्रव्य में हेय, उपादेय एवं श्रद्धेय की खोज करने के लिए सात तत्त्वों के माध्यम से सत् की यथार्थ स्थिति इस पुस्तक में समझाई है।"

"उन सात तत्त्वों में, जीव तत्त्व तो आत्मा है, अजीव तत्त्व तो परज्ञेय तत्त्व हैं, आस्रव बंध पर्यायांश है, एवं हेय तत्त्व हैं, संवर निर्जरा पर्यायांश है, एवं उपादेय तत्त्व हैं, मोक्ष तत्त्व तो परम उपादेय तत्त्व है ही। इन्हीं में आस्रव बंध तत्त्व के विशेष भेद पुण्य व पाप मिलाकर नवतत्त्व भी कह दिये जाते हैं, वे भी आस्रव बंध के भेद होने से हेय तत्त्व ही हैं।"

"इसप्रकार अपनी आत्मा की अन्तर्दशा को समझकर ध्रुवरूप स्व आत्म तत्त्व में अहंपना स्थापन करने की मुख्यता से उपर्युक्त समस्त स्थिति को भेदज्ञान एवं अनुसंधानपूर्वक भलीप्रकार समझकर, स्व को स्व के रूप में, पर को पर के रूप में मानते हुये, हेय को त्यागने योग्य, उपादेय को ग्रहण करने योग्य स्वीकार करते हुये, यथार्थ मार्ग शोध निकालने का उपाय उपर्युक्त पुस्तक के भाग २ के माध्यम से हमने समझा है।"

इस वर्तमान पुस्तक भाग ३ का विषय है "आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय यथार्थ निर्णय ही है"।

प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त विषय को प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा ८० की टीका के माध्यम से विस्तारपूर्वक समझाया है। गाथा ८० में बताया है कि "भगवान् अरहंत को जो द्रव्य गुण पर्याय रूप से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और जो अपनी आत्मा को जानता है उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य नाश को प्राप्त होता है। "अतः इस गाथा में आचार्यश्री ने सम्यक्त्व प्राप्त करने की सांगोपांग संपूर्ण प्रक्रिया बता दी है। इसी कारण उपर्युक्त गाथा के माध्यम से मोक्षमार्ग को विस्तारपूर्वक समझने का प्रयास किया गया है।"

आत्मार्थी जीव ने भाग-२ के विषय के माध्यम से, अपनी अन्तर्दशा के अनुसंधानपूर्वक सात तत्त्वों में से श्रद्धेय, ज्ञेय एवं हेय उपादेय तत्त्वों को स्व-पर के भेदज्ञान पूर्वक जान तो लिया एवं समझ भी लिया। लेकिन आत्मज्ञता प्राप्त करने के लिये उनका प्रयोग कैसे किया जावे, वह विधि इस पुस्तक में बताई गई है। अतः आत्मार्थी को यही दृष्टिकोण मुख्य रखकर इसका अध्ययन करना चाहिये।

"भगवान् अरहंत की आत्मा में वर्तमान में सर्वज्ञता, वीतरागता, निराकुलरूपी सुखदशा आदि प्रगट हुए हैं, वे सब अनादि से ही द्रव्य में थे, तब ही तो पर्याय में प्रगट हुए हैं। अतः भगवान अरहंत की वर्तमान

दशा ही, अरहंत के द्रव्य का परिचायक है। १०० टंच के शुद्धस्वर्ण के समान उनका आत्मा ही शुद्ध आत्मा है। इसप्रकार हर एक आत्मा का स्वभाव अर्थात् ध्रुवांश तो उनके समान ही है। मैं भी एक आत्मद्रव्य हूँ, अतः मेरा ध्रुव भी अरहंत के समान ही है। मेरी वर्तमान पर्याय में जो भी रागादि भाव होते हैं उनका ध्रुवांश में तो अस्तित्व ही नहीं है। वे तो समयवर्ती पर्याय मात्र हैं। उक्त पर्याय तो, पर में अहंपना स्थापन करने से, ज्ञान के परलक्षी परिणमन के समय, आत्मा की मिथ्या मान्यता के कारण उत्पन्न हुई है और किसी ज्ञेय को अच्छा मानकर रागरूप एवं किसी को बुरा मानकर द्वेषरूप, उत्पन्न हुई क्षणिक पर्याय मात्र है। उस पर्याय का जीवन ही मात्र एक समय का है। दूसरे समय तो स्वयं व्यय हो जाती है। साथ में वर्तता हुआ मेरा ज्ञानस्वभाव स्थाई भाव होने से, उसमें इन सब क्षणिक पर्यायों के आवागमन का ज्ञान कालांतर में भी बराबर बना रहता है। अतः विकाररूपी संसार तो एक समय मात्र का ही है। लेकिन मेरी मिथ्या मान्यता जब तक चलती रहेगी तब तक, यह भाव (संसार) हर समय नवीन-नवीन उत्पन्न होता ही रहेगा। इसही कारण अभी तक भी चलता चला आ रहा है। अतः इस राग-द्वेषादि भावसंसार की उत्पत्ति का कारण, मात्र एक मेरी मिथ्या मान्यता ही है। उस ही कारण जो मेरे नहीं हैं ऐसे ज्ञेय तत्वों को भी मेरा मानकर उनको प्राप्त करने एवं हटाने की दौड़ ही अनादि से करता चला आ रहा हूँ।"

"ज्ञान का स्वभाव ही स्व पर प्रकाशक है। वह स्वभाव से ही, स्व को जानते हुए पर को जानता हुआ उत्पन्न होता है। आत्मा का ज्ञान, जानने की क्रिया भी, अपने असंख्य प्रदेशों में रहते हुए अपने में ही करता है। पर पदार्थ इसके ज्ञान तक आते नहीं और आत्मा भी उनको जानने के लिए अपने से हटकर उन पदार्थों तक जाता नहीं वरन् अपने आप में रहकर ही दूरवर्ती समीपवर्ती सभी को जान लेता है लेकिन ज्ञेयों की अच्छाई-बुराई ज्ञान में नहीं आती। आत्मा के ज्ञान का ऐसा ही एक अचिंत्य अद्भुत आश्चर्यकारी स्वभाव है। इसके अतिरिक्त एक और

भी विशेषता है कि आत्मा की पर को जानने की प्रक्रिया भी ज्ञान के पर सन्मुखतापूर्वक नहीं होती, वरन् स्वसन्मुखतापूर्वक ही होता है। ज्ञान का स्वभाव स्वपर प्रकाशी होने के कारण, उस ज्ञान की पर्याय में तत्समय की योग्यतानुसार, जिन ज्ञेयों का आकार प्रतिबिंबित होता है, उन ज्ञेयों के आकार रूप परिणमित अपने ज्ञानाकारों के जानने के समय ज्ञान जान लेता है। पर सन्मुख होकर पर को जानने का आत्मा के ज्ञान का स्वभाव ही नहीं है। लेकिन ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं होने से मैं उन ज्ञेयों को जानने के समय ज्ञान को पर सन्मुख रखते हुये, उन ज्ञेय पदार्थों में अच्छे बुरे की कल्पना करके, उनको प्राप्त करने अथवा हटाने की दौड़ लगाता हुआ निरंतर दुःखी दुःखी ही बना रहता हूँ।"

"अरहंत भगवान् की आत्मा ने उपर्युक्त मिथ्या मान्यताओं का अभाव कर स्व में तन्मय हो जाने से, उनका ज्ञान जगत् के समस्त ज्ञेयों को एक साथ जानने पर भी, उनके प्रति किंचित् भी आकर्षित नहीं होता। इसही कारण किसी को भी प्राप्त करने व छोड़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। फलस्वरूप निरंतर निराकुलतारूपी परमानंद के उपभोक्ता बने रहते हैं।" इसही को पं. दौलतारामजी ने कहा है कि :-

सकलज्ञेय ज्ञायकतदपि, निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरिरजरहस विहीन ॥

"भगवान् अरहंत भी पहले हमारे समान अज्ञानी रागी द्वेषी आत्मा ही थे, उनने भी उपरोक्त मिथ्या मान्यताओं को दूरकर यथार्थ मार्ग अपनाकर अरहंत दशा प्राप्त की। उस ही मार्ग को समझने के उपाय, प्रमाण नय आदि द्वारा उक्त मोक्षमार्ग को समझने की विधि इस भाग में बतायी गयी है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय का स्वरूप, उनके प्रयोग की विधि एवं उनकी उपयोगिता इसी प्रकार निश्चय-व्यवहारनय का स्वरूप, उनके प्रयोग की विधि एवं उपयोगिता की विस्तार से चर्चा करके द्रव्यदृष्टि एवं पर्यायदृष्टि के विषय एवं पर्यायार्थिकनय के विषय एवं उनकी हेय-उपादेयता की यथार्थ समझ प्राप्त करने के उपायों की चर्चा भी इसी

पुस्तक में है। द्रव्यदृष्टि के विषयभूत निज आत्मतत्व, ध्रुवांश में अहंपना स्थापना के द्वारा, कर्तृत्वबुद्धि का अभाव कर, पर्यायार्थिकनय के विषयों के प्रति, परपना स्थापन कर उपेक्षाभाव जाग्रत करने की समस्त प्रक्रिया का वर्णन भी इसमें किया गया है। इनहीं विषयों में इन्द्रियज्ञान का हेयपना तथा अतीन्द्रियज्ञान का उपादेयपना आदि विषयों पर भी चर्चा की गई है। इस समस्त कथन के माध्यम से यथार्थ मार्ग की यथार्थ समझ प्राप्त कर, अकाट्य निर्णय के द्वारा अपनी श्रद्धा में, मार्ग के प्रति निःशंकता प्रगट करना ही उद्देश्य है। क्योंकि निःशंक यथार्थ निर्णय उत्पन्न हुए बिना किसी भी मार्ग का अनुसरण करना संभव नहीं हो सकता। अतः आत्मार्थी को इस पुस्तक के विषय को गंभीर चिंतन मनन द्वारा, सत् समागम द्वारा, एवं युक्ति आगम अनुमांन एवं अपने अनुभव के द्वारा समझ कर, वीतरागता की कसौटी पर परखकर, श्रद्धा में निःशंक होकर यथार्थ श्रद्धा प्रगट करना चाहिये। यही मात्र इस मनुष्य जीवन की सार्थकता है।"

उपर्युक्त विषय पर यथार्थ चिन्तन मनन उस ही व्यक्ति को चल सकना संभव है: जिसको संसार, देह, भोगों से विरक्ति उत्पन्न हुई हो। यथार्थ मार्ग प्राप्त नहीं होने के कारण, अनादिकाल के संसार भ्रमण से त्रसित हुआ हो। तथा वर्तमान में प्राप्त मनुष्य जीवन को सत्समागम एवं जिनवाणी के शरण में ही बनाये रखने का अभिप्राय हो तथा रुचि का वेग संसार के आकर्षणों से हटकर आत्मीक शांति प्राप्त करने के लिये तड़पता हो। वर्तमान में दुर्लभातिदुर्लभ अवसर प्राप्त हो जाने पर, उसकी दुर्लभता श्रद्धा में प्रगट हुई हो ऐसा अवसर खो देने पर, यह अवसर अनंतकाल तक मिल सकने की असंभवता लगती हो। ऐसे आत्मार्थी जीव को ही आत्म कल्याण प्राप्त करने का यथार्थ मार्ग समझने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है और वह ही निश्चय से यथार्थ मार्ग प्राप्त कर आगे बढ़ता हुआ आत्मानुभूति प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

इस पुस्तक के भाग ४ में "यथार्थ निर्णय के द्वारा सविकल्प आत्मज्ञान प्राप्त करने की विधि की एवम् सविकल्प आत्मज्ञान पूर्वक निर्विकल्प आत्मानुभूति कैसे प्राप्त होती है इस पर चर्चा होगी — इसप्रकार का संकल्प है।

अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका में प्रकाशित मार्ग ही संसार में भटकते प्राणी को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त कराने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादिकाल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिये दर-दर की ठोकरें खाता फिरता था, सबही अपने चिंतन को सच्चा मार्ग कहते थे लेकिन किसी के पास रंचमात्र भी शांति प्राप्त करने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में, मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ और न जाने कहाँ-कहाँ भटकता हुआ सन् १९४३ में मेरे भाग्ययोग से प्रातः स्मरणीय महान् उपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी का समागम प्राप्त हो गया, कुछ वर्षों तक तो उनके बताये मार्ग पर भी पूर्ण निःशंकता प्राप्त नहीं हुई तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सबही तरह से परीक्षा कर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा को शांति प्राप्त करने का मार्ग अगर कोई हो सकता है तो मात्र एक यही है अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता? ऐसे विश्वास एवं पूर्णसमर्पणता के साथ उनके सत्समागम का लाभ उठाने का प्रयत्न करता रहा फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ उसमें जो कुछ भी है वह सबका सब अकेले पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का ही है। वे तो सद्ज्ञान के भंडार थे, आत्मानुभवी महापुरूष थे उनकी वाणी का एक-एक शब्द गहन गंभीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृत तुल्य होता था उनमें से अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो, तो वह सब मेरी बुद्धि का ही दोष है और जो कुछ भी यथार्थ है वह सब पूज्य श्री स्वामीजी की ही देन है उनकी उपस्थिति में भी एवं स्वर्गवास के पश्चात् भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी

का अध्ययन करता रहा हूँ उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता है, उससे भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत दृढ़ हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि जिनवाणी के अध्ययन करने के लिये हम विल्कुल अंधे थे। "अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्य स्वामीजी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है, जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या, भविष्य के भवों में भी नहीं भूल सकेगा।"

इसप्रकार जो कुछ भी गुरू उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धि रूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधीसादी भाषा में प्रस्तुत करने का यह प्रयास है।

यह पुनर्मुद्रित संस्करण, मात्र संशोधित और परिवर्धित संस्करण ही नहीं है अपितु प्रकाशन के पूर्व इसमें बहुत कुछ परिवर्तन किये गये हैं। प्रकाशन के पूर्व मैंने आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल से निवेदन किया कि वे इस भाग को एक बार आद्योपान्त पढ़कर आगम के आलोक में पुस्तक में यदि कोई विसंगति अथवा भूल हो तो मुझे संकेत करें ताकि मेरी स्वयं की भूल हो तो निकल जावे तथा इसका पुनर्मुद्रण विशेष प्रामाणित रूप का हो सके मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि उन्होंने मेरा निवेदन स्वीकार कर, अपने अत्यन्त व्यस्त समय में से भी समय निकालकर आद्योपान्त पढ़कर संशोधित एवं परिवर्धन करने में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया, इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

इसप्रकार प्रस्तुत पुस्तक आत्मार्थी जीवों को यथार्थ मार्ग प्राप्त करने में कारण बनें इस भावना के साथ तथा मेरा उपयोग जीवन के अंतिमक्षण तक भी जिनवाणी की शरण.में ही बना रहे एवं उपर्युक्त यथार्थ मार्ग मेरे आत्मा में सदा जयवंत रहे इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— *नेमीचन्द पाटनी*

विषय सूची

आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय	**१७ से २७**
गाथा ८० की विषय वस्तु	२०
आत्मज्ञतापूर्वक मिथ्यात्व के नाश का उपाय	२०
स्वर्ण के दृष्टान्त द्वारा अरहन्त की आत्मा को समझना	२१
सत्समागम की आवश्यकता	२२
अरहंत की आत्मा शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध है	२३
अरहंत की आत्मा और हमारी आत्मा में अन्तर कहाँ है ?	२४
अरहंत की आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समझने की विधि	२६
भगवान अरहन्त की सर्वज्ञता	**२८ से ३७**
भगवान अरहंत की आत्मा का स्वरूप	२८
अरहंत का ज्ञान	२९
ज्ञान की स्व पर को जानने की प्रक्रिया	३०
ज्ञान की सर्वज्ञता	३५
अतीन्द्रिय ज्ञान में ही सर्वज्ञता होती है	३६
वीतरागता	**३८ से ४०**
वीतराग स्वभाव	३८
स्व और पर की यथार्थ समझ	३९
स्व मानने योग्य कौन है ?	४०
अरहन्त की आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समझना	**४१ से ६८**
भगवान अरहन्त की आत्मा	४१
ध्रुव स्वभाव की सिद्धि	४२
अरहन्त के द्वारा अपने ध्रुव की पहिचान	४३
ध्रुव की सामर्थ्य	४५
ध्रुवभाव की श्रद्धा से लाभ कैसे ?	४६
सर्वप्रथम करने योग्य कर्तव्य	४९
क्या ध्रुव की श्रद्धा से पर्यायें शुद्ध ही होंगी ?	५०
मोक्षमार्ग में कषाय की मंदता	५२
आत्मार्थी की पात्रता	५३
सचेतन अचेतन परिकर से परिणति समेटना	५५
द्रव्यकर्मों से परिणति समेटना	५५

भावकर्मों से भी वृत्ति समेटकर आत्मसन्मुख करना ५५
भावकर्मों से छुटकारा कैसे मिले ? ५८
भावकर्म उत्पन्न कैसे होते हैं ? ५९
भावकर्मों के साथ द्रव्यकर्मों का निमित्त-नैमित्तिकपना ६१
भावकर्मों का कर्त्ता नहीं मानने से स्वछन्दता का भय ६३
पर्याय से अपनापना कैसे छूटे ? ६४
निष्कर्ष ६५
आत्मा अपनी ही पर्याय को पर कैसे माने ? ६६
उपसंहार ६८

नयज्ञान ६९ से ७२

नयज्ञान व उसकी उपयोगिता ६९
ज्ञानी बनने के लिये नयज्ञान की उपयोगिता ७०
नयज्ञान द्वारा आत्मा को समझने की पद्धति ७१
निष्कर्ष ७२

नय एवं दृष्टि का अन्तर ७३ से ८४

द्रव्यदृष्टि एवं द्रव्यार्थिकनय का अन्तर ७३
पर्यायदृष्टि एवं पर्यायार्थिकनय का अन्तर ७४
ज्ञानी को पर्यायार्थिकनय होती है, पर्यायदृष्टि नहीं ७५
दृष्टि का कार्य क्या ? ७६
आत्मा अरहन्त जैसा ज्ञान में कैसे आता है ? ७८
पर्याय की असमानता अरहंतपने की श्रद्धा में बाधक नहीं ? ७९
पर्याय स्वभाव ७९
स्वच्छंदता के भय का निराकरण ८१
पुरुषार्थहीनता के भय का निराकरण ८४
पुरुषार्थ की परिभाषा ८४

अनुभूति में इन्द्रियज्ञान बाधक कैसे ? ८५ से ९५

इन्द्रियज्ञान एवं अतिन्द्रियज्ञान ८५
अज्ञानी का ज्ञान राग एवं कर्ताबुद्धि का उत्पादक ८६
मनजन्य ज्ञान आत्मा का प्रबल घातक ८९
ज्ञाताबुद्धि एवं कर्ताबुद्धि का अंतर ९१
कर्तापने की परिभाषाएं व विपरीतता ९१

निश्चयनय एवं व्यवहारनय	**९५ से १०९**
आगम अध्यात्म का अंतर	९५
द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चयव्यवहार के हेतु हैं	९६
निश्चय व्यवहार का स्वरूप	९६
उपचार का स्वरूप	९९
निश्चय का विषय ही आश्रय करने योग्य	१००
व्यवहार के कथन की उपयोगिता	१०१
व्यवहारनय प्रयोजनभूत कैसे ?	१०२
मोक्षमार्ग दो मानने का निषेध	१०४
परिणति (परिणमन) नय नहीं है	१०४
निश्चयनय व्यवहारनय का निषेधक कैसे है ?	१०६
निश्चय व्यवहार प्रकरण का उपसंहार	१०७
आत्मा अरहन्त सदृश कैसे ?	**११० से १३२**
मेरी आत्मा अरहंत के समान है	११०
विकारी पर्याय का क्षेत्र आत्मा	१११
आत्मा का द्रव्य तो अरहंत समान ही है	११४
चेतन ही अन्वय रूप से प्रसरता है	११६
अहंपना स्थापन किसमें करना	११९
उपर्युक्त मान्यता से लाभ	११९
अरहंत के ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का ज्ञान	१२०
अरहंत जैसा आत्मा मानने का लाभ	१२२
अरहंत जैसा मानने में पर्याय बाधक	१२३
रागादि की उत्पत्ति का कारण	१२५
निष्कर्ष	१२७
उपसंहार	१२७

***

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्री नगेन्द्रकुमारजी पाटनी, आगरा	2001 =00
2.	श्रीमती कलावती कंचनबाई पाटनी फैमिली चै. ट्रस्ट, मुम्बई	2001 =00
3.	श्रीमती मिथलेश ध. प. श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, दिल्ली	1000 =00
4.	डॉ. जतीशचन्दजी जैन, इन्दौर	500 =00
5.	स्व. ऋषभकुमारजी जैन पुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिडावा	300 =00
6.	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	251 =00
7.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध. प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251 =00
8.	श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमीकल्स', दिल्ली	251 =00
9.	सिंघई संतोषरानी ध. प. श्री सुखदयालजी देवडिया, केसली	251 =00
10.	श्रीमती रश्मि वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	251 =00
11.	श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडनूं	251 =00
12.	श्रीमती सोहनदेवी ध. प. स्व. तनसुखलालजी पाटनी, गोहाटी	251 =00
13.	श्रीमती भंवरीबाई ध. प. स्व. श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	251 =00
14.	सुमतिलालजी जैनावत, इन्दौर	251 =00
15.	श्री बाबूलाल राजेशकुमारजी पाटनी, गोहाटी	201 =00
16.	श्री सुरेशचन्दजी सुनीलकुमारी जैन, बैंगलोर	201 =00
17.	श्री माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	201 =00
18.	श्रीमती स्नेहलता शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा	111 =00
19.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101 =00
	योग :	**8876 =00**

सुखी होने का उपाय भाग-३

मंगलाचरण एवं प्रारम्भिक

मित्थाभाव अभावतैं जो प्रगटै निजभाव ।
सो जयवंत रहौ सदा यह ही मोक्षउपाव ॥

आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय.

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन की गाथा नं. ८२ में गाथा ८० की निम्नप्रकार महिमा की है —

सव्वे विय अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥ ८२॥

अर्थ :— सभी अरहंत भगवान उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके तथा उसी प्रकार से उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, उन्हें नमस्कार हो।

उपर्युक्त गाथा में "तेण विधाणेण" के द्वारा आचार्य महाराज ने जिस विधि की ओर संकेत किया है तथा उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके सभी अरहन्त बने हैं। मात्र इतना ही नहीं, उस विधि के ऊपर इतना जोर दिया है कि सभी अरहंतों ने तथा अपरवर्ती आचार्यों ने भी उसी विधि का उपदेश दिया है।

इसकी टीका लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्य देव ने भी उस विधि के लिए प्रकारान्तर का असंभव होने से द्वैत ही संभव नहीं है, ऐसा कहा है।

"यतः खल्वतीतकालानुभूत क्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थंकराः प्रकारान्तरस्य संभवासंभावितद्वैतनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपण कर्माशानां स्वयमुनुभूय।"

"अर्थ :— अतीत काल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तर का असंभव होने से जिसमें द्वैत संभव नहीं है, ऐसे इसी एक प्रकार से कर्मांशों का क्षय स्वयं अनुभव करके।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि "जिस विधि के लिए कुंदकुंदाचार्यदेव ने इस गाथा में संकेत किया है उसी विधि पर आचार्य अमृतचंद्र देव ने भी बहुत महत्व दिया है।"

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि दोनों आचार्य महाराज ने जिस विधि की ओर संकेत किया है, वह ही अरहंत बनने का एकमात्र उपाय है। अतः जिस पात्र जीव को अरहंत बनने की जिज्ञासा जाग्रत हुई है उसको तो "वह विधि" पूर्णरूप से समझकर, निर्णय में लाकर, श्रद्धा में दृढ़ता के साथ बिठाकर, सब तरफ से अपनी परिणति को समेटकर, पूर्ण रुचि एवं पुरुषार्थ के साथ एक मात्र उस ही मार्ग पर आरूढ हो जाना चाहिए, यही एकमात्र आत्मज्ञता प्राप्त कर, संसार का अभाव करके भगवान बनने का उपाय है।

आचार्य अमृतचंद्र देव तो इसी गाथा की टीका में कहते हैं कि "इसलिये निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है ऐसा निश्चित होता है। अधिक प्रलाप से बस होओ। मेरी मति व्यवस्थित हो गई है।"

उपर्युक्त कथन के माध्यम से सहज ही तीव्र जिज्ञासा खड़ी होती है कि "वह विधि" क्या है, जिसकी ओर आचार्यों ने इतनी दृढ़तापूर्वक संकेत किया है।

अतः गाथा ८० एवं ८१ निम्नप्रकार है :—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलुजादि तस्स लयं ॥ ८० ॥
जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

उपर्युक्त गाथाओं में आचार्य महाराज ने गाथा ८० में तो दर्शन मोह को नाश कर आत्मज्ञता प्राप्त कर सम्यक्त्व प्राप्त करने का उपाय बताया है। एवं गाथा ८१ में सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर चारित्र मोह का नाश कर साक्षात् भगवान बनने का उपाय बताया है।

जो कमर कसकर भगवान बनने के लिए पूर्ण पुरुषार्थपूर्वक उद्यत हुआ है, उस आत्मा के लिए उपर्युक्त दोनों गाथाओं में पूरी विधि वर्णन कर दी है। इन दोनों गाथाओं में से गाथा ८१ में कहा है कि जीवो ववगदमोहो "अर्थात् जिस जीव ने मोह (दर्शन मोह) को दूर किया है" इसका तात्पर्य यह निकला कि जिस जीव ने गाथा नं. ८० के मर्म को समझकर आत्मज्ञता प्राप्त कर ली है वह जीव ही गाथा नं. ८१ के अनुसार परिणमन करके भगवान बन सकेगा। प्रकारान्तर से असंभव होने का अभिप्राय है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिसको भगवान बनना है उसको सर्वप्रथम गाथा ८० में बताई विधि के अनुसार श्रद्धा में यथार्थता उत्पन्न करके दर्शनमोह का नाश करना, एकमात्र आवश्यक कर्तव्य है। इसके बिना गाथा ८१ में बताया गया मार्ग कार्यकारी नहीं हो सकता।

इसी हेतु से टीकाकार आचार्यश्री ने गाथा ८० के प्रारंभ करने के पूर्व, उग्र पुरुषार्थ प्रेरक शब्द लिखे हैं कि "इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है।" आत्मार्थी को भी इस गाथा का महत्व स्वकल्याण की दृष्टि से, स्व के लक्ष्य से, पूर्ण मनोयोगपूर्वक समझना चाहिए एवं आत्मतत्त्व को आत्मसात् करने हेतु जगत की उपेक्षापूर्वक, अपनी परिणति एवं उपयोग को सब तरफ से समेट कर, आत्मलक्षी करना चाहिये तथा एकमात्र स्वज्ञेयतत्त्व में ही अपनापन स्थापनकर, आत्मज्ञता प्राप्त कर लेना चाहिए।

गाथा ८० की विषय वस्तु

आत्मज्ञतापूर्वक मिथ्यात्व के नाश का उपाय

गाथा ८० का अर्थ इसप्रकार है :—

अर्थ :— जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने, पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

आचार्यदेव ने गाथार्थ द्वारा मिथ्यात्व के नाश के उपाय को तीन भागों में विभक्त कर दिया है — (१) अरहंत को द्रव्य, गुण, पर्यायपने जानना, (२) उसके द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को जानना, (३) उसके फलस्वरूप मोह अर्थात् दर्शनमोह का नाश मात्र ही नहीं बल्कि अवश्य ही नाश (क्षय) को प्राप्त हो जाना। इस उपाय को हमको भी तीन भागों में विभक्त कर समझना चाहिए।

गाथा की टीका में आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि "जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य रूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है।"

प्रश्न — अरहंत के जानने से अपनी आत्मा को कैसे जान लेगा? इसके उत्तर में कहा है "क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है।"

प्रश्न — अरहंत के स्वरूप को कैसे पहिचाना जावे?

उत्तर — कि "अरहंत का स्वरूप, अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति, परिस्पष्ट (सर्वप्रकार से स्पष्ट) है, इसलिये उसका ज्ञान होने पर (संपूर्ण) आत्मा का ज्ञान होता है।" इसप्रकार अरहंत को पहचानने का उपाय भी बता दिया है।

आत्मार्थी को मोह के नाश का सरलतम उपाय बताने के लिए उपर्युक्त गाथा एवं टीका पूर्णतः सक्षम है।

स्वर्ण के दृष्टान्त द्वारा अरहन्त की आत्मा को समझना

भगवान् अरहंत का स्वरूप समझने के लिये आचार्य महाराज ने "अन्तिम ताव को प्राप्त सोने का दृष्टान्त दिया है। "विचार करना चाहिए कि अन्तिम ताव को प्राप्त सोना ही क्यों लिखा? कारण यह है कि जिसने कभी सोना परखा ही न हो उसको सर्वप्रथम शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान कराया जाता है तभी वह मिश्रित अवस्था प्राप्त स्वर्ण में, असली सोना दृष्टि में ले सकता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ प्राणी को आत्मस्वरूप का ज्ञान कराने के लिये शुद्ध स्वर्ण के समान, शुद्ध आत्मा का ज्ञान कराना सर्वप्रथम आवश्यक एवं प्रयोजनभूत है तभी क्रोधादि भावों से मिश्रित आत्मा में से शुद्ध आत्मा को दृष्टि में पकड़ सकेगा। ऐसी शुद्ध आत्मा तो भगवान अरहंत की आत्मा ही है। अतः सर्वप्रथम स्वर्ण के दृष्टान्त को ही समझना चाहिए।

जैसे एक स्वर्ण के स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति, स्वर्ण को पहिचानने की कला सीखने के लिए उद्यत होता है तो वह स्वर्ण के स्वरूप को भलीप्रकार जाननेवाले किसी व्यक्ति का सम्पर्क करेगा। स्वर्ण के संबंध में परोक्ष जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेगा। पश्चात् असली स्वर्ण के साथ मिलान करेगा असली स्वर्ण के स्वरूप को, उसकी विशेषताओं (गुणों) के माध्यम से भलेप्रकार से समझकर पक्का निर्णय करेगा। उसके बाद ही उस व्यक्ति का ज्ञान इस योग्य परिपक्व हो सकेगा कि वह अशुद्ध स्वर्ण में भी असली स्वर्ण को पहिचान सके। इसप्रकार जिसने क्षयोपशम द्वारा ही स्वर्ण के परखने की कला सीख ली है । उसकी परीक्षा लेने के लिए निष्णात व्यक्ति उसके समक्ष मिश्रित स्वर्ण की डली उपस्थित करता है और साथ ही शुद्ध स्वर्ण की एक लकीर भी कसौटी पर लगाकर, मिश्रित स्वर्ण में से शुद्ध स्वर्ण की मात्रा खोजने को कहता है। उस डली के एक-एक अंश में अन्य धातुऐं मिश्रित हैं। अतः यहाँ सामान्यतया शुद्धस्वर्ण तो देखने में नहीं आ रहा है अर्थात् वर्तमान पर्याय

की दृष्टि से देखो तो स्वर्ण की शुद्धता कहीं देखने में नहीं आ रही है। लेकिन स्वर्ण के स्वभाव अर्थात् गुणों-विशेषताओं-क्वालिटियों के ज्ञान के आधार से जब मिश्रित अवस्था में असली स्वर्ण को देखता है तो अपनी भेदक दृष्टि के द्वारा शुद्ध स्वर्ण को स्पष्टतया पकड़ लेता है। इस दृष्टान्त का यह चरण महत्वपूर्ण है कि वर्तमान पर्याय की दृष्टि से देखा जावे तो शुद्ध स्वर्ण कहीं भी दिख नहीं रहा है। उस डली में अन्य धातुयें मिश्रित रहते हुए भी, स्वर्ण के गुणों का पक्का विश्वास होने से शुद्ध स्वर्ण को मुख्य बनाये रखता है। उस दृष्टि को कभी गौण नहीं होने देता फलस्वरूप मिश्रित डली में भी शुद्ध स्वर्ण को पहिचान लेता है। डली में मिश्रित अन्य धातुओं के सम्बंध में विचार भी नहीं करता। उनका मूल्यांकन तो दूर, उन मिश्रणों के प्रति अत्यन्त उपेक्षित होकर शुद्ध स्वर्णरूपी द्रव्य को अपनी दृष्टि में मुख्य रखकर मूल्यांकन कर लेता है ।

उपरोक्त दृष्टान्त तो सिद्धान्त समझने के लिए है; अतः हमको भी उससे शुद्ध आत्मा के स्वरूप को समझना है। भगवान अरहंत की आत्मा तो द्रव्य से शुद्ध, गुणों से शुद्ध और पर्याय से भी शुद्ध होने से १०० टंच से शुद्ध स्वर्ण के समान पूर्ण शुद्ध है। इसलिए अरहन्त के स्वरूप को समझने के लिए हमको भी ऐसे व्यक्ति से सम्पर्क करना होगा जो स्वरूप समझकर श्रद्धा भी कर चुका हो।

सत्समागम की आवश्यकता

आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ प्राणी को आत्मस्वरूप समझने के लिये, आत्मज्ञ पुरुषों का समागम प्राप्त कर, उनसे यथार्थ दृष्टि प्राप्त करनी होगी, उस दृष्टि से जिनवाणी के अध्ययन द्वारा आत्मा का स्वरूप अपने ज्ञान में अत्यन्त स्पष्ट समझना पड़ेगा। वह स्वरूप ज्ञान में इतना स्पष्ट हो जाना चाहिए जैसा कि केवली भगवान के ज्ञान में है, अन्तर मात्र परोक्ष और प्रत्यक्ष का रह जाना चाहिए। उक्त आत्मस्वरूप का ज्ञान, संशय, विभ्रम, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित, स्वर्ण के दृष्टान्त के अनुसार इतना

स्पष्ट और निःशंक होना चाहिए कि वह मिश्रित अर्थात् विकारी आत्मा में भी आत्मस्वरूप को अपने दृष्टि एवं ज्ञान में स्पष्ट पहिचान सके ।

अरहंत की आत्मा शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध है

जिसप्रकार स्वर्ण का ज्ञान, शुद्ध स्वर्ण के ज्ञान-श्रद्धान से ही होता है; उसीप्रकार आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ प्राणी को भी शुद्ध आत्मा के स्वरूप के ज्ञान द्वारा ही अपने आत्मस्वरूप की पहिचान होना संभव है। अन्यथा उसके ज्ञान में, स्वरूप के प्रति निःशंकता, दृढ़ता, पक्का विश्वास जाग्रत नहीं हो सकेगा तथा दृष्टि भी आत्मा को पकड़ने योग्य सक्षम नहीं हो सकेगी।

आचार्य श्री ने शुद्ध स्वर्ण के स्थान पर भगवान अरहंत की आत्मा को इसी दृष्टि से हमारे सामने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। शुद्ध स्वर्ण का द्रव्य तो हमेशा शुद्ध ही रहता है। सोने की अवस्था (पर्याय) कितनी भी अशुद्ध हो जावे फिर भी स्वर्ण तो निरन्तर शुद्ध ही प्रकाशित रहता है। स्वर्ण के गुण, पीलापना, चिकनापन, भारीपन, मुलायमपन आदि-आदि भी हर स्थिति में पूर्ण शुद्ध बने रहते हैं और वे प्रकाशित रहते हैं। इसी से मिश्रित दशा में भी शुद्ध स्वर्ण पहिचान लिया जाता है। दृष्टान्त में ऐसे स्वर्ण को लिया है, जो पर्याय में भी शुद्ध है।

उपर्युक्त दृष्टान्त तो मूर्तिक पदार्थ का है। उसके माध्यम से हमको भगवान् अरहंत की अमूर्तिक आत्मा को समझना है। अतः अपने ज्ञान को भी सूक्ष्म बनाकर एकाग्रता के साथ समझना पड़ेगा ।

जगत की जितनी भी आत्माएं हैं उनमें से शुद्धात्मा तो एकमात्र अरहंत एवं सिद्ध भगवान की आत्माएं ही ऐसी हैं, जो द्रव्य से भी शुद्ध, गुणों से भी शुद्ध एवं वर्तमान पर्याय से भी शुद्ध हैं। अतः आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ प्राणी को, अपनी आत्मा पहिचानने के लिए शुद्ध स्वर्ण के स्थान पर, एकमात्र अरिहंत की आत्मा की पहिचान ही, माध्यम हो सकती

है। अतः आत्मार्थी को जैसे भी बने वैसे भगवान अरहंत की आत्मा के स्वरूप को समझना पड़ेगा।

जिसप्रकार स्वर्ण को गुणों के माध्यम से ही मिश्रित स्वर्ण में भी पहिचाना जाता है, उसीप्रकार आत्मा को भी उसके गुणों के माध्यम से ही पहिचाना जा सकता है। क्योंकि गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही रहते हैं और गुणों का धारक ही द्रव्य होता है। इसलिये द्रव्य की वर्तमान दशा (पर्याय) भी उन गुणों जैसी ही होनी चाहिये। द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक सरीखे होना ही द्रव्य का यथार्थ स्वरूप है। जैसे स्वर्ण के गुण, जैसे शुद्ध थे वैसे ही पर्याय में प्रगट हों, उसी स्वर्ण को सौ टंच का शुद्ध स्वर्ण कहा जाता है। इसीप्रकार भगवान् अरहंत की वर्तमान दशा में भी समस्त गुण जैसे द्रव्य में थे वैसे ही पर्याय में प्रगट हो चुके अतः उसको ही शुद्ध आत्मा कहा जाता है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिसप्रकार मिश्रित स्वर्ण में शुद्ध स्वर्ण पहचानने के लिये शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान ही कार्यकारी सिद्ध होता है। उसीप्रकार मिश्रित दशा अर्थात विकारी दशा युक्त हमारी आत्मा के यथार्थस्वरूप को समझने के लिए हमको भी शुद्ध स्वर्ण के समान, भगवान अरहंत की आत्मा को द्रव्य गुणों के माध्यम से समझने से ही हम अपने आत्मस्वरूप की पहिचान कर सकेंगे ।

अरहंत की आत्मा और हमारी आत्मा में अन्तर कहाँ है?

भगवान् अरहंत की आत्मा में जिस-जिसप्रकार के जितने भी गुण हैं, जगत् की हर एक आत्मा में चाहे वह आत्मा कहीं भी हो वैसे के वैसे ही और उतने के उतने ही गुण, हर समय विद्यमान ध्रुव रहते हैं, जैसे स्वर्ण कहीं भी किसी भी दशा में रहे, स्वर्ण के गुण तो जैसे के तैसे ही और उतने के उतने ही हरसमय उसमें ध्रुव बने रहते हैं, उन्हीं से शुद्ध स्वर्ण सब दशाओं में भी पहिचान लिया जाता है। इसीप्रकार हरएक आत्मा में

भी अरहंत जैसे ही गुणों की विद्यमानता, द्वारा ही आत्मा का शुद्ध आत्मस्वरूप, पहिचाना जा सकता है ।

उपर्युक्त सारे कथन का केन्द्रविन्दु भगवान अरहंत की आत्मा को उनके गुणों की व्यक्तता के माध्यम से पहिचानना है ।

प्रश्न — भगवान् अरहंत की आत्मा में गुण तो अनंत हैं अत: सबके स्वरूप को समझना तो संभव नहीं लगता ?

उत्तर — जिन गुणों के स्वरूप समझने से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो, उन गुणों को तो समझना ही है, जिससे कि नवतत्त्वों की भीड़ में छुपा हुआ आत्मस्वरूप, मेरी दृष्टि में आ सके। यह तो स्पष्ट है कि अरहंत और मेरे आत्मा के गुणों में समानता होते हुए भी वर्तमान में उन गुणों की व्यक्तता में अन्तर है।

अज्ञानी को अपने स्वरूप की अनभिज्ञता के साथ-साथ ज्ञान की कमी, रागद्वेष की विद्यमानता एवं आकुलता का वेदन अनुभव में आता है। इनका अभाव करने का निरन्तर प्रयास भी है। जिनवाणी में भी इनके अभाव को ही मोक्षमार्ग बताया है। अत: हमको श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एवं सुख इन चार गुणों को मुख्य करके ही हमारे आत्मस्वरूप को समझना है। इनका अन्तर ही भगवान अरहन्त में और मेरी आत्मा में मुख्य अन्तर है।

भगवान अरहंत को तो आत्मस्वरूप स्पष्ट प्रगट है, अत: उनका उसमें ही "अहंपना" "मैंपना" विद्यमान है। लेकिन हमको आत्मस्वरूप की अनभिज्ञता होने से हम अपने आत्मा को भूलकर, अन्य अनेक ज्ञेयों में "मैंपना" माने हुये है। लेकिन वे ज्ञेय तो मेरे होते नहीं, फलत: निरन्तर की असफलता के कारण दु:ख का वेदन होता रहता है। आत्मा का स्वभाव जानना होने से जानता तो है लेकिन क्षयोपशम ज्ञान के कारण बहुत थोड़ा जान पाता है। अत: अन्य ज्ञेयों को जानने संबंधी आकुलता निरन्तर बनी रहती है, फलत: दु:खी रहता है। आत्मस्वरूप में अपनापन

नहीं होने से परज्ञेय जो जानने में आते हैं, उन ही को अपना मानने के कारण, किसी ज्ञेय को अच्छा मानकर उससे राग करने लगता है एवं किसी ज्ञेय को अहितकर मानकर उससे द्वेष करने लगता है। लेकिन वे ज्ञेय तो पर हैं, इसकी इच्छा के आधीन कैसे परिणम सकते हैं ? फलतः इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकने से निरन्तर दुःखी-दुःखी ही बना रहता है।

इसके विपरीत भगवान अरहंत का आत्मा अपने ध्रुव स्वभावी आत्मा को ही स्व मानने के कारण, स्व के जानने में तत्पर रहता हुआ तन्मय होकर प्रवर्तता है तथा पर ज्ञेयों में किसी से भी अपनेपने का संबंध नहीं रहने से उनके प्रति मध्यस्थ बने रह कर जानता रहता है। उनका ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो जाने के कारण उनके ज्ञान में एक साथ ही सब कुछ प्रत्यक्ष हो गया। सर्वज्ञ हो जाने से कुछ भी जानने को बाकी नहीं रहा। इच्छाओं के अभाव के कारण, आकुलता नहीं रही अतः वे पूर्ण सुखी हैं। भगवान् अरहंत अपने आत्मस्वरूप में ही अपनापन बना रहने के कारण उसमें ही लीन होकर परिणमते हैं। परज्ञेय ज्ञान में विद्यमान होते हुए भी, नहीं जानने के समान बने रहते हैं। अतः किंचित् भी रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, फलतः किसी भी प्रकार की आकुलता की उत्पत्ति का अवकाश ही नहीं रह जाता। अतः भगवान् अरहंत पूर्ण सुखी बने रहकर अत्यन्त तृप्त, तृप्त रहते हैं। इसी विषय को आगे भी समझने का प्रयास करेंगे।

इसप्रकार भगवान अरहंत की आत्मा को पहिचानने के लिये उपर्युक्त मुख्य चार गुणों, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एवं सुख के स्वरूप के द्वारा भगवान अरहंत की आत्मा को समझेंगे तभी हम अपनी आत्मा को भी समझ सकेंगे और अन्तर को दूर कर सकेंगे।

अरहंत की आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समझने की विधि

जैसे स्वर्ण के दृष्टान्त को मुख्य रखकर अरहंत की आत्मा को समझना है, उसीप्रकार अरहंत की आत्मा को स्वर्ण के स्थान पर रखकर,

अपनी आत्मा के स्वरूप को समझना है। इसलिये जिसप्रकार स्वर्ण का स्वरूप ज्ञान में स्पष्ट होने से ही अशुद्ध स्वर्ण में भी शुद्ध स्वर्ण को समझ सकते हैं, उसीप्रकार जब तक अरहंत की आत्मा का स्वरूप ही हमारे ज्ञान में स्पष्ट नहीं होगा, तब तक हम अपने आत्मा के स्वरूप को भी नहीं पहिचान सकेंगे। अत: भगवान अरहंत की आत्मा के स्वरूप को संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित नि:शंकता पूर्वक ज्ञान में स्पष्ट कर लेना चाहिये।

अशुद्ध स्वर्ण में भी शुद्ध १०० टंच के सोने को, पहिचानने का माध्यम शुद्ध स्वर्ण था, सोने के साथ कैसा भी कितना भी मिश्रण कर दिया जावे उसमें भी सोने के यथार्थ ज्ञान के माध्यम से "दृष्टि," स्पष्ट रूप से शुद्ध स्वर्ण को पहिचान लेती है। जांच करने वाला मिश्रणों की तरफ ज़रा भी दृष्टि, नहीं करता हुआ, स्वर्ण का मूल्यांकन कर लेता है। उसकी दृष्टि में तो मात्र स्वर्ण का ही अस्तित्व रहता है। ज्ञान में यह जानकारी हो सकती है कि इसमें किस धातु का मिश्रण कितना है। लेकिन उसका ज्ञान उसको हेय तत्त्व यानी स्वर्ण का विकार समझकर निकालने योग्य ही मानता है व जानता है ।

इसी प्रकार भगवान अरहंत के आत्मा में गुणों का पूर्ण विकास हो गया है। अत: उनकी आत्मा को द्रव्य के माध्यम से देखो तो वैसा ही है, गुणों के माध्यम से देखो तो वैसा ही है तथा पर्याय के माध्यम से देखो तो वैसा ही है। इसप्रकार अरहंत की आत्मा का स्वरूप, हमारी आत्मा को समझने के लिये यथार्थत: कसौटी का कार्य कर सकेगा ऐसा हमारे निर्णय में स्पष्ट हो जाना चाहिये। इसलिये अरहंत की आत्मा के स्वरूप को विस्तार पूर्वक समझे बिना, अपनी आत्मा को पहिचान करना संभव नहीं है।

भगवान अरहन्त की सर्वज्ञता

भगवान अरहंत की आत्मा का स्वरूप

उपर्युक्त विषय यह दृष्टिकोण रखकर समझना है कि हर एक आत्मा के द्रव्य व गुण तो अरहंत भगवान की आत्मा के समान ही एक जैसी ही शक्तिवाले व परिपूर्ण हैं। अगर गुणों में कमी हो तो पूर्णता आवेगी कहाँ से ? अरहन्त के गुणों में जैसा जो कुछ था वह पूर्ण का पूर्ण विकसित होकर व्यक्त हो गया। अत: उनके माध्यम से हमको हरेक आत्मा के द्रव्य व द्रव्य के गुणों का पूर्ण सामर्थ्य सुगमता से ज्ञान-श्रद्धान की पकड़ में आ सकता है।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि "अभी हमको भगवान अरहंत की आत्मा के स्वरूप को समझना है; अपनी आत्मा को समझने की जल्दबाजी नहीं करनी है" कारण जब तक हमारी कसौटी ही तैयार नहीं होगी तब तक, हमें अपने आत्मा में खोज प्रारंभ कर देने से आत्म स्वरूप कैसे प्राप्त होगा? अत: प्रथम तो हमको अरहंत के स्वरूप को अच्छी तरह समझने में पूरा पुरुषार्थ लगा देना चाहिये। वह पक्का हो जाने पर ही अपने स्वरूप की पहचान सुगमता से हो सकेगी।

आत्मा को पहिचानने का लक्षण ज्ञान है उसकी अरहंत की आत्मा में पूर्णता है। लेकिन हमारे में कमी है और उसकी पूर्णता चाहते हैं। हमारी आत्मा में राग द्वेषादि विद्यमान हैं उनका भी अभाव चाहते हैं। राग द्वेषादि भावों का अरहंत में अभाव होने से वे पूर्ण वीतरागी एवं सुखी हैं। पण्डित दौलतरामजी ने छहढ़ाला के मंगलाचरण में कहा है :—

तीन भुवन में सार वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप, शिवकार नमहुं त्रियोग सम्हारिके॥

पण्डित टोडरमलजी साहब ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के मंगलाचरण में इसी वीतराग विज्ञानता को नमस्कार किया है।

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जाते भये अरहंतादि महान॥

समस्त जिनवाणी में भगवान अरहंत की महिमा सर्वज्ञता और वीतरागता के कारण ही गाई गई है। अतः हमको भी उपर्युक्त दोनों गुणों को मुख्य बनाकर उनकी आत्मा को समझना है ।

अरहंत का ज्ञान

ज्ञान के माध्यम से अरहंत की आत्मा को समझना है। पण्डित दौलतरामजी ने स्तुति में कहा है कि भगवान अरहंत का ज्ञान कैसा होकर वर्तता है :—

"सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन"

सहज ही प्रश्न उठता है कि हम थोड़े से ज्ञेयों के जानने वाले तो निरन्तर दुःखी दिखते हैं, तो भगवान सकल ज्ञेयों को जानने पर भी कैसे सुखी हो सकते हैं ? अतः हमको उनके जानने की प्रक्रिया को समझना पड़ेगा।

यह तो अनुभव है कि हर एक आत्मा का असाधारण स्वभाव जानना है। चाहे वह अरहंत का आत्मा हो चाहे निगोदिया जीव का और चाहे हमारा आत्मा हो, सभी में जानने का कार्य तो होता ही रहता है। यह भी ज्ञात है कि जानने की प्रक्रिया भी ऐसी है कि वह स्व को जानते हुए ही पर को भी जानता है जैसे जब भी मुझे क्रोध आता है, तब अंतर से ऐसी ध्वनि निकलती है कि मुझे क्रोध आया। इससे सिद्ध होता है कि हर एक आत्मा को क्रोध के ज्ञान के साथ ही अपने आप के अस्तित्व का ज्ञान अव्यक्तरूप से आता ही है। आगम भी ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक ही बताता है। ज्ञानी स्व में अपनापन होने से स्व को मुख्य रखते हुए जानता है, अज्ञानी पर में अपनापन होने से पर को मुख्य रखते हुए जानता है। जो मुख्य होता है, उस ही का ज्ञान होता हुआ दिखने लगता है ।

इसप्रकार सिद्ध होता है कि ज्ञान का स्वभाव स्व पर को जानना ही है ।

ज्ञान की स्व पर को जानने की प्रक्रिया

उपरोक्त प्रक्रिया को समझने के लिये हमको ज्ञान श्रद्धान में यह स्पष्ट होना चाहिये कि "जगत के हर एक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में सीमित रहते हुए ही परिणमते हैं। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतः उसका जो भी कार्य होगा वह अपने स्वक्षेत्र अर्थात् असंख्य प्रदेशों में ही होगा और कार्य को पर्याय में अपने स्वक्षेत्र में रहते हुये ही अनवरत रूप से करता रहेगा। उसमें किसी का किंचित्मात्र हस्तक्षेप हो ही नहीं सकता।" उसीप्रकार मेरे आत्मा का ज्ञानगुण भी अपने स्वक्षेत्र में रहकर ही उत्पाद काल में स्वतंत्र रूप से अपनी योग्यतानुसार जानने का कार्य करता रहेगा। निष्कर्ष यह है कि मेरी आत्मा का ज्ञानगुण स्वपरप्रकाशकस्वभावी है, उसकी प्रत्येक पर्याय स्वक्षेत्र में रहते हुए ही स्वसन्मुखतापूर्वक स्व और पर दोनों का ज्ञान करती ही रहती है। परक्षेत्र में पहुँचकर कार्य कर सकना संभव ही नहीं है ।

प्रश्न — स्वज्ञेय का ज्ञान तो स्वसन्मुखतापूर्वक हो सकता है, लेकिन परज्ञेयों का ज्ञान परसन्मुखता के बिना कैसे होगा ?

उत्तर — ज्ञान का स्वभाव ही एक अचिंत्य आश्चर्यकारी है। उस ज्ञान में जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञेय सन्मुख हुए बिना ही स्वतः प्रतिभासित होते हैं। क्योंकि सभी द्रव्यों में प्रमेयत्व अर्थात ज्ञेयत्व स्वभाव है। अतः सभी द्रव्य अपने-अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए ही हर एक के ज्ञान के ज्ञेय बनने की योग्यता रखते हैं। यही कारण है कि ज्ञेयों को ज्ञान के पास नहीं जाना पड़ता एवं ज्ञान को भी ज्ञेयों के पास नहीं आना पड़ता, आंख (चक्षु) के अनुसार। जैसे आंख (चक्षु) अपने आप में रहते हुए, ज्ञेय के पास गये बिना तथा ज्ञेय भी उसके पास आये बिना, अपने-अपने में रहते हुए भी, आंख उन पदार्थों को जान लेती है। लेकिन पर को जानते समय

भी क्या चक्षु को स्वयं अपने अस्तित्व का जानना नहीं रहता? नहीं, स्व का जानना भी बना रहता है। इसीप्रकार ज्ञान भी अपने-आप में रहते हुए परज्ञेयों के पास पहुंचे बिना तथा परज्ञेय भी ज्ञान में प्रवेश किये बिना ही, ज्ञान अपने-आप को जानते हुए उन ज्ञेयों को भी दर्पण के समान जान लेता है। जैसे दर्पण परज्ञेयों को दिखलाने के साथ-साथ अपने अस्तित्व का भी ज्ञान कराये बिना नहीं रहता। जैसे आँख के सन्मुख अग्नि आने पर जिसप्रकार चक्षु गर्म नहीं हो जाती तथा बर्फ के जानने पर ठंडी नहीं हो जाती, इसीप्रकार दर्पण के सामने कोई अग्नि दिखाई देती हो तो दर्पण गर्म नहीं हो जाता और बर्फ दिखाई देने पर दर्पण ठंडा नहीं हो जाता। इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान भी परज्ञेयों को जानते समय, आंख एवं दर्पण के समान, ज्ञेय द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न रहने के कारण, जानने में आते समय किंचित्मात्र भी प्रभावित नहीं होता और न उनके सन्मुख होकर जानना पड़ता है।

इसप्रकार ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए, ज्ञान की पर्याय स्व तथा पर को एक साथ जान लेती है। जैसे जब-जब मुझमें क्रोध आता है, उस समय मेरी अन्तर्ध्वनि निकलती है कि "मुझे क्रोध आया"। इस पर, विचार करें तो क्रोध का ज्ञान होने के पूर्व "मुझे" शब्द किसका अस्तित्व सिद्ध करता है ? अपनी आत्मा को ही बताता है। इस ही से सिद्ध होता है कि आवाल-गोपाल सबका ज्ञान स्वपरप्रकाशक ही है और सभी को एकसाथ दोनों का ज्ञान होता है। लेकिन ऐसे स्वपर का एकसाथ ज्ञान होने पर भी, ज्ञानी को स्व की ओर की रुचि अर्थात् अपनापन होता है उसको, स्व मुख्य होकर स्व का ज्ञान होता हुआ प्रतिभासित होता है तथा उस समय पर का प्रकाशन गौण बना रहता है। लेकिन अज्ञानी को तो पर के प्रति रुचि (अपनापन) होता है इस कारण उसको पर मुख्य होकर मात्र पर का ज्ञान होता हुआ ही प्रतिभासित होता है, स्व की तो उसको जानकारी ही नहीं है, फलतः

स्वप्रकाशक ज्ञान कभी मुख्य नहीं होता। अतः उसका उस ओर लक्ष्य ही नहीं जाता इसलिए स्व का ज्ञान होता हुवा दिखाई नहीं देता।

हम छद्मस्थ जीवों के क्षयोपशम ज्ञान की इतनी कमजोरी है कि दोनों का एकसाथ ज्ञान होता हुआ ज्ञात नहीं हो सकता। इस कारण सभी ज्ञेयों को हमारा ज्ञान मुख्य गौण करके ही जान सकता है। अतः मुख्य का ज्ञान होता हुआ दिखता है एवं गौण का ज्ञान रहने पर भी नहींवत् बना रहता है। इसप्रकार ऐसा निर्णय में आता है कि सबका ज्ञान स्वसन्मुखतापूर्वक ही पर को जानता है।

प्रश्न — परज्ञेय अपने-अपने स्वक्षेत्र में विद्यमान हैं उनका ज्ञान आत्मा, अपने ही स्वक्षेत्र में रहते हुए कैसे कर लेगा ?

उत्तर — जिसप्रकार दर्पण अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए ही, अपने से दूरवर्ती क्षेत्रों में विद्यमान अनेक पदार्थों को, समीप हुए बिना ही, प्रतिबिम्बित करता है। उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान भी, अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए ही, अपने द्रव्य से भिन्न, क्षेत्र से भिन्न, काल से भिन्न एवं भाव से भी भिन्न, ऐसे समस्त ज्ञेय पदार्थों से दूर रहकर भी वे पदार्थ ज्ञान में घुस गये हों, इसप्रकार जनाने लगते हैं।

प्रश्न :— ऐसा कैसे संभव है ?

उत्तर :— जिसप्रकार दर्पण के सन्मुख वाले पदार्थ तो जहाँ के तहाँ ही बने रहते हैं, फिर भी दर्पण के परमाणु ही स्वयं, उन पदार्थों के आकार परिणमित हो जाते हैं, इससे ऐसा लगने लगता है कि वे पदार्थ ही दर्पण में घुस गये हों। लेकिन पदार्थों का तो अंश मात्र भी दर्पण में नहीं आया। यथार्थतः पदार्थ तो दर्पण में नहीं दीखें हैं, वरन् उन पदार्थों के आकार परिणत दर्पण के परमाणु ही दिखाई दे रहे हैं। दर्पण के परमाणु पदार्थों जैसे हो जाने से, हम पदार्थों को जानने के लोभी व्यक्तियों की दृष्टि में पदार्थाकार परिणत दर्पण गौण होकर नहींवत् हो जाता है और वे पदार्थ ही दिखाई देते हुए दिखने लगते हैं। यथार्थतः तो पदार्थों का एक

अंश भी दर्पण में नहीं आया अत: दिखने वाले पदार्थों के प्रतिबिंब, दर्पण ही हैं, पदार्थ नहीं।

इसीप्रकार आत्मा की ज्ञान पर्याय में भी ज्ञेय पदार्थ आ नहीं जाते और न आत्मा भी ज्ञेयों को जानने के लिये उनके समीप जाता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में विद्यमान रहते हुए भी, ज्ञानपर्याय का ऐसा ही एक अचिंत्य स्वभाव है कि वह पर्याय स्वयं ही अपनी योग्यता से उन ज्ञेयों के आकार हो जाती है। लेकिन ज्ञेय लुब्धप्राणियों को, ज्ञान के ज्ञेयाकार जानने में आते हुए भी वे तो नहींवत् गौण हो जाते हैं और मात्र ज्ञेय ही दिखने लगते हैं। यथार्थत: ज्ञेयों का तो एक अंश मात्र भी वहाँ नहीं आया है चक्षु के दृष्टान्तानुसार। चक्षु के द्वारा ज्ञात होने वाले पदार्थ, चक्षु से अत्यन्त दूर रहते हुए भी, तथा उनका एक अंश भी चक्षु में नहीं आने पर भी, वे पदार्थ चक्षु में आ ही गये हों, ऐसा चक्षु के बीच की कणिका (पुतली) में स्पष्ट दिखने लगता है। लेकिन उन पदार्थों का तो एक अंश भी चक्षु तक नहीं पहुंचा, चक्षु के परमाणु स्वयं ही उन पदार्थों के आकार परिणम गये हैं पदार्थ नहीं। जिनकी चक्षु की पुतली पर मोतियाबिन्दु आ जाता है, उनकी पुतली में वस्तुओं के आकारों के प्रतिबिंब नहीं पड़ते, फलत: वे वस्तुयें विद्यमान होते हुए भी उस व्यक्ति को नहीं दीखती। इसीप्रकार ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यन्त दूर रहकर भी, ज्ञेयों के ज्ञान के समय स्वयं अपनी योग्यता से उन ज्ञेयों के आकार परिणमता है उसमें ज्ञेयों का एक अंश भी नहीं है।

ज्ञान ही उन ज्ञेयों के आकार हो जाने से ऐसा कह दिया जाता है कि ज्ञेयों का ज्ञान आत्मा ने किया। यथार्थत: तो वे ज्ञेयाकार स्वयं ज्ञानाकार ही हैं ज्ञेयाकार कहना तो उपचार कथन है, जो ज्ञेयों के उपचार करने मात्र से उत्पन्न होता है। अन्यथा ज्ञेय तो परद्रव्य हैं, आत्मा से उन ज्ञेयों का क्या-क्यों और कैसे संबंध हो सकता है। निमित्त मात्र देखकर उपचार से ज्ञेयाकार कह दिया जाता है। यथार्थत: वे ज्ञानाकार आत्मा ही है।

प्रश्न — आत्मा का जब स्व पर को जानने का स्वभाव ही है तो, पर के जानने में ज्ञान उपयुक्त होने पर रागादि की उत्पत्ति एवं स्व को जानने में रागादि का अभाव होकर वीतरागता की उत्पत्ति होती है - ऐसा जिनवाणी में क्यों कहा गया है ?

उत्तर — कथन का अभिप्राय यथार्थ समझना चाहिए। पर के जानने मात्र से राग नहीं होता, वरन् जानने वाले जीव की ज्ञेय के प्रति एकत्व बुद्धि के कारण राग होता है, जानने से नहीं होता। अगर जानने से राग होता तो केवली भगवान तो लोकालोक को जानते हैं अतः उनको तो बहुत राग हो जाना चाहिए था। तथा अज्ञानी को एवं मुनिराज दोनों को एकसा राग होना चाहिए; लेकिन ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि पर को जानने मात्र से राग का उत्पादन नहीं होता। राग के उत्पादन का कारण तो अज्ञानी का अज्ञान (मिथ्या मान्यता) एवं ज्ञानी को स्व में स्थिरता की कमी अर्थात् चारित्र की कमी है।

वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि ज्ञान का कार्य तो स्व तथा पर को मात्र जानना ही है। स्व को स्व के रूप में जान लेना और पर को पर के रूप में जान लेना है। लेकिन पर को स्व मान लेना यह कार्य तो श्रद्धा की विपरीतता का है; इसमें ज्ञान को दोषी नहीं कहा जा सकता। ज्ञानी होने पर ज्ञान ने स्व को स्व के रूप में निर्णय कर लिया तो श्रद्धा ने उसी समय स्व को स्व मान लिया, श्रद्धा भी सम्यक् हो गई तो चारित्र भी स्व में ही लीन हो गया तो स्व में तो किसीप्रकार का द्वैत है ही नहीं, अतः स्व में लीनता होने पर, आत्मा निर्विकल्प होकर आंशिक वीतरागता प्रगट कर अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव कर लेता है।

इसके विपरीत अज्ञानी के ज्ञान ने तो पर को ही स्व के रूप में निर्णय कर लिया है, फलतः उसी समय श्रद्धा गुण ने स्व की उपेक्षा कर जो पर है उसको ही स्व मान लिया। उसकी श्रद्धा (मान्यता) विपरीत होने से ज्ञान का जानना भी विपरीत हो गया। विचार किया जावे तो इस

विपरीतता का उत्तरदायित्व तो श्रद्धा का ही है। श्रद्धा ने पर को स्व मान लिया फलतः चारित्र भी उसी में लीनता करने की चेष्टा करता है लेकिन सफल नहीं होता। फलतः किसी ज्ञेय में इष्टपने की कल्पना कर राग करता रहता है और किसी में अनिष्टपने की कल्पना कर द्वेष करता हुआ दुःखी होता रहता है। तात्पर्य यह है कि पर को जानने से रागादि उत्पन्न नहीं होते वरन् परज्ञेयों को जानते समय मान्यता की विपरीतता से राग और द्वेष उत्पन्न करता है। ज्ञान तो मात्र जानने का कार्य करता है।

ज्ञान की सर्वज्ञता

ज्ञान तो आत्मा का एक गुण है। गुण-स्वभाव-शक्ति-सामर्थ्य सब एकार्थवाची हैं। हर एक वस्तु का स्वभाव सामर्थ्य तो अमर्यादित होता है। किसी में प्रगटता की कमी देखकर, उसको शक्ति की मर्यादा नहीं माना जा सकता। आत्मा के अतिरिक्त विश्व में छह जाति के अनन्तानन्त द्रव्य हैं और सबमें अपने-अपने अनन्त गुण हैं। हर एक वस्तु के हर एक गुण के विकास की सामर्थ्य तो असीमित होती है, जैसे मूर्तिक पुद्गल परमाणु की एक समय में गमन करने की सामर्थ्य १४ राजू की है। जिसका प्रमाण वर्तमान की दूर संचार प्रणाली है, जिसके द्वारा शब्द वर्गणाएँ अत्यल्प काल में लाखों मील दूर पहुँच जाती हैं। इससे विश्वास करने योग्य है कि वस्तु के शक्ति के विकास की मर्यादा असीमित होती है। उसीप्रकार आत्मा की प्रमेयत्व शक्ति भी अमर्यादित है; विश्व की अनन्त आत्माएँ अगर मेरे को अपने ज्ञान का विषय बनावें तो एक ही समय मेरा आत्मा सबका ज्ञेय बन सकता है, अगर ऐसी सामर्थ्य सब द्रव्यों में नहीं होती तो विश्व का कोई पदार्थ किसी के भी ज्ञान का विषय नहीं बन पाता। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ मेरे ज्ञान का विषय बनता है। उपरोक्त सभी द्रष्टान्तों से सिद्ध होता है कि हरएक गुण-शक्ति के विकास की मर्यादा असीमित होती है।

इसीप्रकार आत्मा में जो ज्ञानगुण है, उसके सामर्थ्य के विकास की मर्यादा भी असीमित है। ज्ञानगुण का कार्य है जानना, अतः उसके जानने की मर्यादा भी असीमित ही रहती है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के ज्ञान गुण का सामर्थ्य इतना है कि वह एक समय मात्र में अपने सहित लोकालोक के जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको एक साथ ही जान सकता है। यह युक्ति तर्क एवं आगम से तथा हमारे अनुभव से भी सिद्ध है। जैसे एक कक्षा के चार विद्यार्थियों को लेकर समझा जावे तो ज्ञान तो चारों ही विद्यार्थियों में समान रूप से विद्यमान है लेकिन उनके विकास में अन्तर है। उनमें एक ही पाठ को एक विद्यार्थी तो ४ घंटे में याद कर पाता है, दूसरा २ घंटे में, तीसरा एक घंटे में और चौथा तो पन्द्रह मिनिट मेंही याद करके सुना देता है। इस दृष्टान्त से यह निश्चित होता है कि मात्र ज्ञान के विकास में ही तारतम्यता है, ज्ञान गुण में नहीं, इस तारतम्यता द्वारा यह अनुमान तो किया ही जा सकता है कि लोक में ऐसा भी कोई व्यक्ति अवश्य होना चाहिए, जिसमें इस तारतम्यता की पराकाष्ठा प्रगट हो गई हो। अर्थात् लोक में कोई आत्मा ऐसा भी होना चाहिए जो काल के छोटे से छोटे काल एक समय मात्र में ही विश्व के जो भी, जितने भी, जानने योग्य पदार्थ हो उन सबको जान लेवे। ऐसा ज्ञान प्रगट होना ही ज्ञानगुण की सर्वज्ञता है और ऐसी पराकाष्ठा को प्राप्त आत्मा ही सर्वज्ञ है। इसप्रकार सर्वज्ञता तो आत्मा का स्वभाव है। यह उपरोक्त प्रकार से प्रमाणित है। अतः सिद्ध है कि पूर्ण दशा को प्राप्त अरहंत एवं सिद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं।

अतीन्द्रिय ज्ञान में ही सर्वज्ञता होती है

जो ज्ञान मन व इन्द्रियों के माध्यम से प्रवर्तता है, उस ज्ञान पर्याय को इन्द्रिय ज्ञान कहा जाता है। जो ज्ञान मन व इन्द्रियों के आलम्बन के बिना सीधा आत्मा से प्रवर्तता अर्थात् जानता है, वह ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है। इन्द्रिय ज्ञान क्रमिक कार्य करता है और अतीन्द्रिय अक्रमिक प्रवर्तता

अर्थात् जानता है। इन्द्रिय ज्ञान किसी एक इन्द्रिय के विषय को, उस इन्द्रिय के आलम्बनपूर्वक अवग्रह-ईहादि के क्रम से जानता है। लेकिन अतीन्द्रिय ज्ञान, किसी आलम्बन बिना सर्व विषयों को अवग्रह-ईहादि के क्रम बिना एक साथ जान लेता है। प्रवचनसार की गाथा २१ से भी इसका समर्थन होता है।

गाथा इसप्रकार है —

अर्थ — "वास्तव में ज्ञान रूप से (केवलज्ञान रूप से) परिणमित होते हुए केवली भगवान के सर्व द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष हैं, वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते।"

इसलिए ऐसे ज्ञान में ही सर्वज्ञता होती है क्योंकि एक समय मात्र में स्व एवं पर, समस्त लोकालोक का ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान में ही संभव हो सकता है। क्रमिक वर्तने वाले ज्ञान में संभव ही नहीं होता। प्रवचनसार की गाथा ४१ में भी यही कहा है —

अर्थ — "जो अप्रदेश को सप्रदेश को मूर्त को और अमूर्त को और अनुत्पन्न तथा नष्ट पर्याय को जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है।"

इसके अतिरिक्त भी इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञेय को किसी आलम्बन लेकर ही जानता है, सीधा नहीं जानता। लेकिन अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रवर्तन में बीच में कोई नहीं रहता, सीधा आत्मा से जानता है; इसलिए उस ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से प्रवर्तता है, इसलिए परोक्ष है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान तो ज्ञेय को सीधा जानता है इसलिए प्रत्यक्ष और अत्यन्त स्पष्ट होता है। ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान में ही सर्वज्ञता प्रगट होती है और ऐसा ही ज्ञान एक समय मात्र में, समस्त पदार्थों को भूत-भावी-वर्तमान पर्यायों सहित एक साथ प्रत्यक्ष जान लेता है, यही सर्वज्ञता है और यही ज्ञान के विकास

की पराकाष्ठा है। ऐसे ज्ञान को ही प्रवचनसार गाथा ३९ में दिव्य कहा है, उसका अर्थ निम्नप्रकार है —

"यदि अनुत्पन्न पर्याय तथा नष्ट पर्याय ज्ञान के (केवलज्ञान के) प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन प्ररूपेगा ?"

इसप्रकार उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि अरहन्त का ज्ञान सर्वज्ञता को प्राप्त हो जाने से, अरहन्त को स्व एवं पर सहित समस्त पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय, भूत-भावी एवं वर्तमान पर्यायों सहित ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्तते हैं फिर भी तन्मय पर में नहीं होते। अतः अब जानने को कुछ रहा ही नहीं; तथा वे पूर्ण वीतरागी हो गये इसलिये पूर्ण सुखी हैं, फलतः उनको न तो जानने को कुछ बाकी रहा और न कुछ प्राप्त करना भी बाकी रहा। इसप्रकार वे अनन्त काल तक निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते रहते हैं। यह है अरहन्त की सर्वज्ञता की महिमा।

वीतरागता

वीतराग स्वभाव

अरहन्त की आत्मा का दूसरा विशेषण है वीतरागता। वीतरागता का अर्थ — रागादि का अभाव। अतः रागादि का आत्मा में से आत्यान्तिक अभाव हो जाना ही अरहन्त भगवान की वीतरागता है। रागादि की उत्पत्ति के कारणों को समझकर, उन कारणों का अभाव करने से ही ऐसी वीतरागता प्राप्त हो सकती है। अतः उत्पादक कारणों को समझना अति आवश्यक है।

रागादि के दो प्रकार हैं — पहला तो मिथ्यात्व अर्थात् स्व-पर की मान्यता में विपरीतता। तात्पर्य यह है कि जो पर है, उनको अपना मान लेना और जो वास्तव में स्व है, उसके संबंध में अनिर्णयपना (अजानकारी अथवा विपरीत मान्यता)। इसप्रकार की विपरीत मान्यता के साथ वर्तने वाले अनन्तानुबन्धी रागादि भाव हैं।

दूसरे प्रकार का राग ज्ञानी महात्माओं के मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का अभाव हो जाने पर भी होता है। ऐसा राग चारित्र मोह के उदय में वर्तने वाले रागादि हैं, वे गुणस्थानों की तारतम्यतानुसार प्रत्याख्यान-अप्रत्याख्यान-संज्वलन के उदयकाल में होते हैं और मोक्षमार्ग में साथ वर्तते हुए भी क्रमशः नाश हो जाते हैं, तब आत्मा पूर्ण वीतरागी होकर अरहन्त हो जाता है।

हमारा विषय है मिथ्यात्व का अभाव करना, क्योंकि मिथ्या मान्यता के अभाव हुए बिना अनन्तानुबन्धी का भी अभाव नहीं होगा और उनके अभाव हुए बिना मोक्षमार्ग ही प्रारम्भ नहीं होगा।

अतः स्व और पर के सम्बन्ध में विपरीत मान्यता को दूर करने पर चर्चा करेंगे।

स्व और पर की यथार्थ समझ

स्व और पर के विभाजन को समझने की मर्यादा अर्थात् कार्यक्षेत्र अपने आत्मद्रव्य तक ही सीमित रहना चाहिए। इसलिए आत्मद्रव्य से जो सभीप्रकार भिन्न है, जिनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी मेरे से भिन्न है, ऐसे शरीर और शरीर से संबंध रखने वाला सर्व परिकर (वस्तुएँ) तथा द्रव्य कर्म आदि की चर्चा यहाँ नहीं करेंगे। क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष ही पर हैं। लेकिन रागादि आत्मा में ही होते हैं और उनका ही आत्मा को अभाव करके वीतरागी बनना है अतः हमको अपने आत्मद्रव्य में ही स्व पर को समझना है और समझ कर मिथ्या मान्यता का अभाव करना है।

आत्मद्रव्य में एक साथ ही वर्तने वाले दो प्रकार के भाव हैं, एक तो समय-समय परिवर्तन करने वाले पर्याय भाव दूसरा स्थाई, परिवर्तन नहीं करने वाला ध्रुवभाव। दोनों ही भाव आत्मा में अनादि अनन्त एक साथ ही रहते हैं, क्योंकि दोनों एक ही द्रव्य के अंश हैं, ऐसी स्थिति में इनकी भिन्नता समझकर भी, भिन्न तो किया नहीं जा सकता। इनका स्वरूप

समझकर, अपना वीतरागरूपी प्रयोजन सिद्ध करने में उपयोग किया जा सकता है। अर्थात् जिसके आश्रय से वीतरागता प्राप्त हो, उसको तो 'स्व' के रूप में मानकर, मैंपना (अपनापना) स्थापन कर, उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी रह गया हो, उन सबमें सहज ही परपना आ जाना चाहिए। धर्म प्रारम्भ करने के लिए इनकी यथार्थ समझ प्राप्त कर, उस पर निःशंक श्रद्धा उत्पन्न होना ही सबसे पहली सीढ़ी है।

जगत के प्राणी मात्र का ऐसा स्वभाव है कि जिसको अपना मान लेता है, जरा भी संकोच करे बिना उस पर सर्वस्व समर्पण कर देता है। उसीप्रकार आत्मा भी जिसको अपना मान लेता है, उसमें ही पूर्ण पुरुषार्थ के साथ एकत्व कर लेता है। अतः हमको भी अरहन्त बनना है तो सर्वप्रथम स्व एवं पर का स्वरूप समझकर, उनमें स्व किसको माना जावे तथा पर कौन है यह समझना आवश्यक है।

स्व मानने योग्य कौन है ?

यह तो समझ चुके हैं कि स्वपने और परपने का विभाजन हमारे 'ध्रुवभाव' एवं 'पर्याय भाव' में ही करना है। अतः दोनों में से, जिसको अपना मानने से वीतरागता रूपी प्रयोजन सिद्ध हो एवं जो नित्य स्वभावी है मात्र वह ही स्व मानने योग्य है। अर्थात् अनादि से अनन्त काल तक जिसने मेरा साथ नहीं छोड़ा है, मात्र वह ही स्व माना जाने योग्य है। लेकिन ध्रुव के साथ ही वर्तने वाला पर्याय भाव, वह तो स्वभाव से ही अनित्य स्वभावी है, हर क्षण बदल जाता है, तथा अनित्य स्वभावी होने से हर समय उत्पाद और व्यय अर्थात् जीवन और मरण करता रहता है। ऐसी पर्याय को मेरा मानने से तो मुझे हर समय जन्म मरण का दुःख भोगना पड़ेगा, कभी भी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। तथा वह स्वयं रागादि रूप है, उसको अपना मानने से वीतरागता रूपी प्रयोजन कैसे सिद्ध हो सकेगा। अतः वह मेरी मानी जाने योग्य नहीं है।

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि किसी प्रकार भी पर्याय द्रव्य से भिन्न, न तो हो ही सकती है और न की ही जा सकती है, मात्र उसमें मेरेपने की मान्यता छोड़ी जा सकती है। उनको पर मान लेने से उसके रक्षण पोषण का भाव सहज ही छूट जाता है और वीतरागता प्रगट करने के लिए तो पर्याय में विद्यमान रागादि भावों का नाश करना है, अतः यदि पर्याय में किंचित् भी मेरापना रहेगा तो वीतरागता प्राप्त होना असंभव हो जावेगा।

ध्यान रहे कि पर्याय का अभाव मानने अथवा करने की भावना मिथ्या है। क्योंकि पर्याय तो द्रव्य का अंश है, उसके बिना अंशी नहीं रह सकता। अतः पर्याय का अभाव नहीं होना है वरन् उसकी अशुद्धि अर्थात रागादि का अभाव करना है एवं शुद्ध वीतरागी होकर ध्रुव के समान बन जाने के लिए पर्याय से अपनापना तोड़ना है।

अरहन्त की आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समझना

भगवान अरहन्त की आत्मा

संसार के प्राणी मात्र का एक ही प्रयोजन है कि आकुलतारूपी दुःख दूर होकर निराकुलतारूपी सुख उत्पन्न हो और वह अनन्त काल तक बिना व्यवच्छेद के बना रहे। वह आकुलता दो प्रकार की होती है। एक तो नहीं जाने हुए विषयों को जानने की और दूसरी दुख दूर कर सुख प्राप्त करने की।

संसार से जो मुक्त हो गये हैं, उनको तो सभी प्रकार की आकुलताओं का अभाव हो जाता है, ऐसी आत्मा ही परमात्मा कहलाती है एवं उनको अरहन्त, सिद्ध आदि अनेक नामों से संबोधित किया जाता है। इसलिए जिस भव्य जीव को संसार, देह, भोगों का स्वरूप समझकर, उनके प्रति अन्तर से आकर्षण छूट गया हो; उसको ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं कि अरहन्त भगवान का आत्मा भी पूर्व भवों में तो मेरे जैसा ही आत्मा था, वह आत्मा भी परमात्मा बन गया तो मैं भी अवश्य परमात्मा (अरहन्त)

बन सकता हूँ। भगवान अरहन्त की आत्मा को समझने की रुचि ऐसे जीव को जाग्रत होती है। वह ही अरहन्त को उनके द्रव्य-गुण-पर्यायों के माध्यम से समझकर, उनके समान बनने के लिए अपनी आत्मा का अनुसंधान करके परमात्मा बनने का पुरुषार्थ करेगा।

भगवान अरहन्त को उनकी वर्तमान पर्याय के माध्यम से समझा जावे तो वीतरागी हो जाने से उनका आत्मा अनन्त सुखी है और ज्ञान भी सर्वज्ञता को प्राप्त हो चुका है। अपने आत्मा को स्व के रूप में तथा लोकालोक के सर्व पदार्थों को पर के रूप में द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित जानता है। अतः जानने को कुछ शेष नहीं रहने से, नहीं जानने संबंधी आकुलता का अभाव वर्तता है। राग-द्वेष आदि से होने वाली अशान्ति का अभाव होकर अत्यन्त निराकुल हो जाने से पूर्ण सुखी हो गये एवं आत्मा में बसे हुए अनन्त गुणों की सामर्थ्य पूर्ण प्रगट हो जाने से वे परमात्मा हो गये। इसप्रकार भगवान अरहन्त सर्वज्ञता एवं वीतरागता को प्राप्त कर अनन्त सुखी होकर अनन्त काल तक आनन्द का भोग करते रहेंगे। ऐसी प्रगटता उनकी पर्याय में पहले तो नहीं थी, कहाँ से आई? पूर्व पर्याय में तो वह आत्मा दुखी, रागी-द्वेषी एवं अल्पज्ञानी था; उस समय भी सामर्थ्यों का सद्भाव तो आत्मा में था ही, तात्पर्य यह है कि पूर्व अविकसित पर्याय का अभाव होकर ही आत्मा में विद्यमान सामर्थ्यों में से ही वर्तमान पर्याय में उनका उत्पाद हुआ है। निष्कर्ष यह है कि उनके समान ही मेरे आत्मा में भी वे सभी सामर्थ्य विद्यमान हैं। अतः निश्चित रूप से मैं भी भगवान बन सकता हूँ।

ध्रुव स्वभाव की सिद्धि

इसप्रकार सिद्ध है कि अरहन्त के समान सभी सामर्थ्यों गुणों शक्तियों का धारक, स्वयं मेरा आत्मा ही है। आगम का सिद्धान्त है "गुणपर्यय-वद्द्रव्यं" अर्थात् गुण-पर्यायों का धारक ही तो आत्मा है। द्रव्य की परिभाषा है कि 'गुणों का समूह वह द्रव्य' और गुणों का परिणमन अर्थात्

प्रगटीकरण वह पर्याय है। अरहन्त की आत्मा में प्रगट हुई सामर्थ्यों का धारक (स्वामी) उनका आत्मा ही है। अतः भगवान अरहन्त ही सर्वज्ञ, वीतरागी एवं परम सुखी हैं।

अब समझना है कि वह स्थान कौन है जिसमें सब सामर्थ्य बसे हुए हैं? समाधान है कि सत् की परिभाषा ही है — 'सत् द्रव्य लक्षणं' एवं 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्'। समस्त गुण अथवा सामर्थ्य भी ध्रुव होते हैं। क्योंकि उन गुणों में न तो कभी-कमी होती है और न बढ़ोत्तरी ही अनादि अनन्त शाश्वत ध्रुव (जैसा विकास प्रगट हुआ वैसे ही) एक से बने रहते हैं। अतः ध्रुव (द्रव्य) एवं अनन्त गुण तो त्रिकालवर्ती एक सरीखे बने रहते हैं अतः वे दोनों तो ध्रुव ही हैं।

भगवान अरहन्त की पर्याय तो अनन्त गुणों के पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाने से ध्रुव के समान ही पर्याय भी हो गई है ओर वैसी की वैसी ही अनन्त काल तक उत्पाद-व्यय करती हुई वर्तती रहेगी। अतः अरहन्त के द्रव्य में अथवा गुणों में अथवा पर्यायों में कोई असमानता नहीं रही। इसलिए भगवान अरहन्त को ध्रुव से देखो तो वैसा ही,गुणो से देखो तो वैसा ही तथा पर्याय में देखो तो वैसा, एकरूप ही ज्ञात होगा।

इसप्रकार आचार्यश्री ने प्रवचनसार की गाथा ८० के द्वारा भगवान अरहन्त को द्रव्य से, गुण से एवं पर्याय से पहिचानने का निर्देश किया है।

अरहन्त के द्वारा अपने ध्रुव की पहिचान

भगवान अरहन्त की आत्मा की जो शक्तियाँ विकसित होकर, पर्याय में प्रग्रट हो गई, वे शक्तियाँ आत्मा के ही द्रव्य-गुणों में बसी हुईं थीं। पर्यायें तो अनित्यस्वभावी हैं, अतः गुणों का पर्याय में रहना संभव ही नहीं है। इसलिए वे सभी शक्तियाँ अपने-अपने गुणों में सदैव शाश्वत बसी रहती हैं और अनन्त गुणों का स्वामी द्रव्य अर्थात् 'ध्रुव' है। द्रव्य का ध्रुव नाम सार्थक इसलिए है कि वह अनन्त शक्तियों को समेटे हुए

अनादि से अनन्त काल तक अपरिवर्तनीय एकसा ही ध्रुव बना रहता है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार पर्यायों द्वारा ये शक्तियाँ प्रगट होती रहती हैं। शक्तियों का भण्डार तो अक्षुण्ण ध्रुवयुक्तंसत् बना रहता है। ऐसा है अरहन्त का ध्रुव तत्त्व। स्पष्ट है कि जो शक्तियाँ विकसित होकर उनकी आत्मा में प्रगट हुई हैं वे अनादि से ध्रुव में विद्यमान थीं अर्थात् निगोद से लेकर तिर्यंच, नारकी, देव, मनुष्य सभी पर्यायों में ध्रुव में विद्यमान रहती हुई अरहन्त सिद्ध दशा होने तक भी चली आ रही हैं और भविष्य में विकसित दशा में भी वैसी की वैसी ही विद्यमान रहेंगी। ध्रुव तो अपरिवर्तनीय ही रहता है। संसार दशा में उनकी पर्याय के प्रगटीकरण में जो अन्तर था; वह उनकी आत्मा ने यथार्थ पुरुषार्थ के द्वारा नष्ट कर दिया, अतः वह पर्याय भी ध्रुव के समान हो गई अर्थात् जो शक्तियाँ ध्रुव में विद्यमान थीं, वे सब अब पूर्ण विकसित होकर ध्रुव के समान हो जाने से पूरा का पूरा आत्मा ही द्रव्य-गुण-पर्याय से एक सरीखा होकर परमात्मा बन गया।

इसप्रकार भगवान अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से समझना ही अपने ध्रुव को पहिचानने की विधि है।

उपरोक्त स्थिति समझने पर हमको हमारे आत्मा के ध्रुव की स्थिति भी स्पष्ट समझ में आ जाती है। इस कथन से ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि ध्रुव की सत्ता भिन्न है तथा गुणों और पर्यायों की सत्ता अलग है। तीनों अभिन्न वर्तते हैं। एक सत् को ही समझाने के लिए उनको भिन्न-भिन्न करके मात्र समझाया जाता है। गुणों के समूह को ही द्रव्य कहा है और गुणों के ही परिणमन को पर्याय बताया है। अतः तीनों भिन्न-भिन्न रहते हुए भी अभिन्न हैं और एक ही सत् के अंग हैं।

जगत में जितने भी जीवद्रव्य (आत्मा) है वे सब एक ही जैसे हैं। जो आत्मा परमात्मा बन गये अथवा बनने वाले हैं, उनकी कोई अलग जातियाँ नहीं हैं। सभी 'सत्द्रव्यलक्षणं' के अनुसार सत् हैं और 'उत्पादव्यय-

ध्रौव्ययुक्तंसत्' के द्वारा ध्रुव रहते हुए भी परिवर्तनशील हैं। सभी 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' के अनुसार, गुण तो अपने-अपने द्रव्य में एक जैसे ही अनन्त की संख्या में सदैव ध्रुव रहकर भी उत्पाद व्यय करते रहते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार स्पष्ट समझ में आता है कि मेरी आत्मा का ध्रुव भाव और अरहन्त के ध्रुव भाव में कोई अन्तर नहीं है। उनके ध्रुव भाव की जो शक्तियाँ विकसित होकर प्रकाश में आईं हैं अर्थात् प्रगट हुईं हैं, वे सब शक्तियाँ उनके ध्रुव में सदैव विद्यमान थीं ओर वही प्रगट हुईं हैं। इससे स्पष्ट है कि वे सभी शक्तियाँ (गुण) मेरे ध्रुवतत्त्व में भी विद्यमान थे और अभी भी विद्यमान हैं। ध्रुव की अपेक्षा और गुणों की अपेक्षा उनकी आत्मा में और मेरी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह है कि उनका ध्रुव और मेरा ध्रुव दोनों एक सरीखे ही हैं। अर्थात् ध्रुव अपेक्षा तो मैं वर्तमान में ही सिद्ध हूँ। लेकिन जब तक वे शक्तियाँ विकसित होकर प्रगट न हों तब तक उनका लाभ आत्मा को नहीं मिलता, जैसे खान में पड़ा हुआ सोना जब तक प्रगट होकर प्रकाश में नहीं आवे, उसका कोई मूल्य नहीं किया जाता। इसलिए आत्मार्थी का कर्तव्य है कि उन शक्तियों के विकास करने का मार्ग समझकर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ, बाधक कारणों को दूर कर शक्तियों का पूर्ण विकास करे।

ध्रुव की सामर्थ्य

भगवान अरहन्त में जो सामर्थ्य वर्तमान पर्याय में प्रगट होकर प्रकाश में आई हैं, वह ध्रुव में विद्यमान थीं और वो सब वर्तमान में मेरे ध्रुव में भी विद्यमान हैं। अतः भगवान अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से समझने पर हमको हमारे ध्रुव भाव की सामर्थ्य बहुत सरलता से समझ में आ जाती है।

भगवान अरहन्त की आत्मा का ज्ञान पूर्ण विकसित होकर, सर्वज्ञता को प्राप्त हो गया। साथ ही आकुलता के उत्पादक कारण राग, द्वेष आदि आत्यन्तिक अभाव होकर पूर्ण वीतरागी हो गये। सभी प्रकार की इच्छाओं

का अभाव हो जाने से परम निराकुलतारूपी शान्ति प्रगट हो गई। इनके अतिरिक्त आत्मा के अनन्त गुण भी पूर्ण विकसित हो जाने से उनकी आत्मा परमात्मा होकर परम अतीन्द्रिय आनन्द को चिरकाल तक भोगते रहेंगे। यदि समस्त शक्तियाँ ध्रुव में विद्यमान नहीं होती तो पर्याय में कैसे प्रगट हो जातीं? इससे सिद्ध होता है कि समस्त शक्तियाँ जो उनके ध्रुव में विद्यमान थीं। वे सभी वर्तमान में मेरे ध्रुव में भी विद्यमान हैं, लेकिन विकास हुए बिना उनका आत्मा को लाभ नहीं मिल पाता।

उपरोक्त शक्तियों का धारक मेरा ध्रुव भाव मेरे में सदैव विद्यमान होते हुए भी अनन्त काल से मैंने विश्वास नहीं किया-श्रद्धा नहीं की; फलतः उनका विकास करने का प्रयास भी कभी नहीं हुआ। अब उपरोक्त कथन को समझकर उस पर दृढ़ विश्वास लाकर सामर्थ्यों का विकास कर स्वयं अरहन्त बनने के मार्ग को गुरु उपदेश, सत् समागम, जिनवाणी अध्ययन आदि द्वारा जैसे बने वैसे, समझकर निःशंक श्रद्धा लाकर रुचिपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। यही जीवन को सार्थक बनाने का उपाय है।

ध्रुवभाव की श्रद्धा से लाभ कैसे?

ध्रुव की श्रद्धा उसी आत्मार्थी को कार्यकारी होगी। जिसके अन्तर में स्वयं अरहन्त बनने की तीव्र भावना जाग्रत हुई हो और जिसने अरहन्त की आत्मा के स्वरूप को समझकर, उनके प्रति अन्तर में आकर्षण उत्पन्न हुआ हो एवं यह विश्वास-श्रद्धा जाग्रत हो जावे कि जो सामर्थ्य भगवान अरहन्त में प्रगट हुई है, वह सब मेरे आत्मा में विद्यमान है; तो उसको अपना ध्रुव ही आकर्षण का केन्द्र सहज ही बन जावेगा तथा सर्वश्रेष्ठ लगने लगेगा। उसकी समस्त रुचि उस ओर ही आकर्षित हो जावेगी और पूर्ण पुरुषार्थ लगाकर वैसी दशा प्रगट करने को उद्यमशील हुए बिना नहीं रहेगा। जैसे किसी धनिक सेठ के इकलौते अवयस्क पुत्र का किसी ने अपहरण कर लिया हो फिर उसको कहीं अनजान स्थान पर छोड़ दिया हो तो वह बालक भीख मांगता हुआ वयस्क भी हो जाता है। अपने को

दीन हीन मानता हुआ रिक्शा चलाकर पेट पूर्ति करता फिरता है। दूसरी ओर उसका पिता उसके वियोग में कष्ट पाता हुआ अपनी करोड़ों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी अपने खोए हुए पुत्र को घोषित करके उसे बैंक में जमा करा देता है एवं अपने पुत्र का फोटो देकर बैंकाधिकारी को अधिकृत कर जाता है कि समाचार पत्रों आदि के द्वारा तलाश कर वह राशि मेरे पुत्र को संभला देवें, मेरे पुत्र की फोटो से उसकी पहिचान कर लेवें आदि आदि। तत्पश्चात् धनिक सेठ के पुत्र को किसीप्रकार उक्त प्रकरण की जानकारी प्राप्त हो जावे अर्थात् निःसंदेह श्रद्धा हो जावे कि अरे 'मैं तो स्वयं बहुत बड़ा करोड़पति सेठ हूँ, दीन हीन दरिद्र रिक्शा चालक नहीं हूँ।' उसके बाद विचार करें कि उसका आकर्षण का केन्द्र क्या होगा? सर्वप्रथम जब उसको श्रद्धा हो गई कि मैं तो बड़ा सेठ हूँ, उस श्रद्धा के बल सें उसका मेरापना मात्र एक बैंक में पड़ी हुई निधि में हो जाता है। रिक्शे आदि चलाते हुए भी उनमें मेरापना छूट जाता है। जिसमें अपनापन उत्पन्न हो गया, सहजरूप से उसकी सम्पूर्ण सामर्थ्य उस को ही प्राप्त करने में लग जाती है। ऐसा सामान्य स्वभाव है।

उसीप्रकार जब आत्मार्थी को यह श्रद्धा जाग्रत हो जावे कि अरहन्त की आत्मा के जैसी और जितनी ही सामर्थ्य मेरे ध्रुव में विद्यमान है तो अपनापन स्वपना सहज ही अपने ध्रुव में अर्थात् अपने आत्मा में जाग्रत हो जावेगा। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होते ही आत्मा के अनन्त गुण भी अपनी-अपनी योग्यता से अपनी सामर्थ्यों सहित आत्मा की ओर कार्यशील हो जावेंगे। इसप्रकार उक्त निर्णय से आत्मार्थी को दीन हीन मानने की मिथ्या मान्यता समाप्त होकर सम्यक् श्रद्धा हो जावेगी और मानने लगेगा कि मैं तो भगवान हूँ ऐसी मान्यता (श्रद्धा) होते ही आत्मा के सर्वगुणों में भी सम्यक्ता आ जाती है; इसी को आगम में 'सर्व गुणांश वह सम्यक्' कहा गया है। ऐसा होते ही ज्ञान भी सम्यक् होकर सम्यग्ज्ञान होकर

आत्मा के दर्शन करके निर्विकल्पता प्राप्त कर श्रद्धा ने अपने त्रिकाली ध्रुव भाव में अपनापन स्थापन कर लिया। स्व का ज्ञान स्व के रूप में सम्यक् होकर, ध्रुव के अतिरिक्त पर्याय सहित जो भी बाकी रहे सबमें परपना आ जाने से वे सब ज्ञान में सहज रूप से गौणरूप पररूप वर्तते रहते हैं। इसप्रकार के जानने से, उनके प्रति एकत्व नहीं हो पाता, फलतः मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी राग उत्पन्न नहीं हो पाता। ज्ञानी को भी जो राग उत्पन्न हो जाता है, वह पर को जानने से नहीं होता, अपितु ज्ञानी की निर्बलता (अचारित्रभाव) के कारण होता है। ज्ञान का स्वभाव तो स्व एवं पर को एक साथ जानना है। वह सहज रूप से स्व को स्व के रूप में तथा पर को पर के रूप में जानता रहता है। ज्ञानी का चारित्र गुण भी सम्यक् हो जाने से स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होकर अनन्तानुबन्धी का अभाव हो जाता है तथा निराकुलतारूपी आनन्द भी आंशिक प्रगट हो जाता है। इसके अतिरिक्त आत्मा की अनन्त शक्तियाँ भी आंशिक शुद्ध होकर कार्यशील हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान की आत्मा को प्रगट ज्ञानआनन्द का नमूना (बानगी) अनुभव में आ जाता है। ऐसा आत्मा ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग का साधक बन जाता है। ऐसे साधक का पुरुषार्थ भी अरहन्त दशा प्राप्त करने की ओर उग्र हो जाता है। यह है अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर अपने आत्मा को जानने की उपलब्धि। उनकी प्रगट दशा के द्वारा अपने ध्रुव की सामर्थ्य का विश्वास जाग्रत होकर ध्रुव में अपनापन आकर' पर्याय एवं पर्यायगत भावों तथा संयोगों से अपनापन छोड़ना नही पड़ता, वरन् सहज ही छूट जाता है।

प्रश्न — पर्याय भी तो उसी सत् का अंश है, उसको भी मेरे से भिन्न क्यों माना जाना चाहिए?

उत्तर — इसप्रकार की शंका का समाधान पहले किया जा चुका है, फिर भी पुनः स्पष्ट करते हैं। यह तो सबके अनुभव में है कि मैं आत्मा

(जीवद्रव्य) तो अनादि अनन्त ध्रुव रहने वाली एक वस्तु हूँ। अनादि से अनेक अवस्थायें बदलते हुए भी मैं तो एकरूप ध्रुव बना हुआ हूँ। मेरा अस्तित्व मेरी सामर्थ्यों-शक्तियों के बिना तो रहा नहीं है। इस सब चर्चा से स्पष्ट है कि मेरा अस्तित्व ध्रुव रूप मैं स्वयं ही हूँ, पर्याय तो स्वयं अध्रुव एवं अनित्य है, वह तो एक समय से अधिक मेरे आत्मा के साथ रहती ही नहीं है, ऐसी पर्याय को किसीप्रकार भी मेरा मानने योग्य नहीं है। ऐसी श्रद्धा हुए बिना ध्रुव में अपनापन स्थापन करने का पुरुषार्थ जाग्रत ही नहीं होगा।

सारांश यह है कि मेरा मानने योग्य तो मात्र अकेला मेरा ध्रुव स्वभाव ही है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी (मेरी पर्याय भी) मेरी माने जाने योग्य नहीं है। ऐसी मान्यता से ही सर्व सिद्धि है। जब पर्याय भी ध्रुव के जैसी परिणमने लगेगी तब तो पर्याय के साथ स्व अथवा पर का भेद ही नहीं रहेगा।

सर्वप्रथम करने योग्य कर्तव्य

प्रवचनसार गाथा ८० का उद्देश्य मुख्यतः दर्शन मोह का नाश करने का है। पश्चात् चारित्र मोह का अभाव करने का उपाय गाथा ८१ में बताया है। आत्मार्थी को यह उद्देश्य ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम अपने ध्रुवधाम के स्वरूप को समझकर अपने आपका अस्तित्व ध्रुवरूप ही मानना चाहिए। अर्थात् 'ध्रुव ही मैं हूँ' ऐसी दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न कर लेना चाहिए। उसके अतिरिक्त जो भी ज्ञान में ज्ञात हो सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। उन सबमें से मेरापन दूर करना है, उनको नाश नहीं करना है। उनकी उत्पत्ति रोकने के प्रयास में नहीं उलझकर 'उनका अस्तित्व मेरे में है ही नहीं, वे तो स्वतंत्र सत्ताधारी पदार्थ हैं और पर्याय तो अनित्य स्वभावी होने से एक समयवर्ती पर है। मैं तो एक ज्ञायक ध्रुव तत्त्व हूँ उसमें किसी का प्रवेश ही नहीं है। पर्यायगत विकार का द्रव्य में तो अस्तित्व ही नहीं रहता। वह तो एक समयवर्ती

पर्यायमें भी, स्व को भूलकर पर को अपना मानकर एकत्व करने से नवीन-नवीन उत्पन्न होते हैं। विकार को अपना मानकर एकत्व करना ही अज्ञानी का मिथ्या अभिप्राय है, संसार का बीज है।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी को सर्वप्रथम सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व के अतिरिक्त सबमें अपनेपने की मान्यता का अभाव करना चाहिए। पर्यायगत भावों में परपना उत्पन्न होते ही विकार का नाश होना प्रारम्भ हो जाता है। कषाय मंदता का कितना भी प्रयास किया जावे तो भी पर में अपनेपने की मान्यता का अभाव हुए बिना रागादि का अभाव होना प्रारम्भ ही नहीं होगा।

क्या ध्रुव की श्रद्धा से पर्यायें शुद्ध ही होंगी ?

ऐसा नहीं है, ध्रुव की श्रद्धा हो जाने पर ज्ञानी को भी पर्याय विकारी उत्पन्न होती है और उसका फल सुख-दुख रूपी आकुलता अवश्य भोगना पड़ता है। रागादि भावों का आत्यान्तिक अभाव करे बिना आत्मा को शान्ति कभी नहीं मिल सकती। आत्मा के अनन्त गुणों में विकारी कुछ ही गुण होते हैं उनमें से यहाँ मात्र चारित्र की पर्याय की चर्चा करेंगे।

चारित्र गुण की पर्याय शुद्ध भी होती है और अशुद्ध भी। अशुद्ध पर्याय के दो भेद हैं — शुभ और अशुभ। अशुभ तो अशुद्ध पर्याय है ही लेकिन शुभ भी अशुद्ध पर्याय ही है। दोनों ही बंध के कारण होने से वास्तव में दोनों ही हेय अर्थात् अभाव करने योग्य हैं, ऐसा निःशंक होकर स्वीकार करना चाहिए। आत्मा में जब तक रंचमात्र भी अशुद्ध पर्याय रहेगी आत्मा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता ऐसा स्वीकार करे बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होगा अपितु स्वछन्द वृत्ति हो जावेगी।

आत्मा (ध्रुव तत्त्व) में रागादि है नहीं, रागादि पर होने से मेरे नहीं हैं आदि विवेचन पहले आया है उक्त कथन तो अपनेपन का अभाव करने मात्र के लिए था, जब तक पर्यायों में किंचित् भी अशुद्धि रहेगी, आत्मा

सुखी नहीं हो सकता। जैसे जब तक शत्रु का अंश भी विद्यमान है, तब तक उसके नाश करे बिना चैन नहीं पड़ता। इसीप्रकार रागादि के समूल नष्ट करने का उपाय निरन्तर करते रहना कर्तव्य है।

अनादि काल से अज्ञानी जीव ने आत्मा का शत्रु होते हुए भी शुभराग को मित्र मान रखा है। अतः ऐसे अज्ञानी को तो किसी भी प्रकार से, गुरु उपदेश, जिनवाणी अध्ययन एवं सत् समागम आदि से यह समझ में आना चाहिए कि ये राग (शुभ हो या अशुभ) दोनों ही मेरे शत्रु हैं, इनकी मित्रता जब तक रहेगी संसार भ्रमण नहीं मिटेगा। इसलिए ऐसे अज्ञानी को ज्ञानी गुरु प्रथम रागादि भावों में मेरापना मानना छोड़ने का उपदेश देते हैं क्योंकि जब तक रागादि शुभ-अशुभ दोनों को मेरा मानता रहेगा उनका अभाव कैसे करेगा। उनके साथ मेरापना छोड़ते ही वे निराधार हो जाने से स्वयं ही अशुभ से शुभ होते हुए क्रमशः नष्ट हो जावेंगे, निर्जरित हो जावेंगे।

दूसरी अपेक्षा यह भी है कि रागादि भावों का अस्तित्व ध्रुव में तो है नहीं, तथा आत्मा के अनन्त गुणों में से कोई गुण नहीं जो रागादि का उत्पादन कर सके। वे तो एक समयवर्ती अनित्य पर्याय में ही उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं लेकिन अज्ञानी को उनसे प्रेम-अपनापन होने से उनका नवीन-नवीन उत्पाद होता रहता है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिए प्रथम रागादि विकारी पर्यायों से अपनेपन का संबंध तोड़कर, मात्र अपने त्रिकाली ध्रुव तत्त्व में निःशंक होकर अपनापन स्थापन करना चाहिए। ध्रुव में अपनापन आते ही रागादि का क्रमशः अभाव होना प्रारम्भ हो जाता है तथा स्वतः ही अनन्तानुबन्धीराग तत्क्षण पलायमान हो जाता है।

जैसे-जैसे आत्मा में स्थिरता बढ़ती जाती है, तत्संबंधी रागादि का उत्पाद भी स्वतः रुक जाता है। वास्तव में यही मोक्षमार्ग है ऐसे भाव शुद्ध भाव ही होते हैं।

मोक्षमार्ग में कषाय की मंदता

जिनवाणी में कषायों का विधान दो प्रकार से किया गया है। कषायों की जाति अपेक्षा एवं उग्रता मंदता अपेक्षा भेद हैं — जाति अपेक्षा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी एवं संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ। इसप्रकार १६ भेद कषायों के होते हैं। मोक्षमार्ग की अपेक्षा इनमें शुभ अशुभ का भेद नहीं है। सभी अशुद्ध भाव हैं।

इन १६ प्रकार की कषायों की उग्रता और मन्दता का माप करने के लिए ६ प्रकार की लेश्यायें बताई गईं हैं। अर्थात् ६ लेश्याओं के माध्यम से इन कषायों की मन्दता एवं तीव्रता को, मापा जाता है, वे स्वयं कषायें नहीं हैं, उनमें से कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या के भावों को तो अशुभ कहा गया है एवं पीत पद्म, शुक्ल इन तीन लेश्याओं के भावों को शुभ संज्ञा दी जाती है।

इसप्रकार उक्त १६ कषायों में से क्रोध और मान कषायों को द्वेष एवं माया और लोभ को राग में, संक्षेपीकरण कर मात्र राग और द्वेष के नाम से सर्वत्र वर्णन किया जाता है।

इसीप्रकार कृष्ण, नील, कापोत के समान उग्र राग और द्वेष के भावों को अशुभ भाव एवं पीत, पद्म एवं शुक्ल जैसे मन्दता वाले राग द्वेष भावों को, शुभ भाव कहा जाता है।

इसप्रकार कषायों के भेद प्रभेद एवं लेश्या सम्बन्धी शुभ अशुभ भावों के प्रकारों को समझकर मोक्षमार्ग में साधक-बाधकपने का अभिप्राय निकालना चाहिए।

अनन्तानुबन्धी के सद्भाव में अज्ञानी को भी तत्त्व निर्णय का प्रयास करते समय तो शुभ लेश्या के ही परिणाम होते हैं। अशुभ लेश्या के परिणामों में समझने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इस अपेक्षा से शुभ लेश्या के भावों को सहायक (साधक) कहा जावे तो कोई दोष नहीं है। इसीप्रकार ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी के अभाव एवं अप्रत्याख्यान के सद्भाव

में भी आत्म स्थिरता के पुरुषार्थ के समय शुभ लेश्या सम्बन्धी भावों का ही सद्भाव रहता है, अशुभ भावों का नहीं। इसलिए ऐसे शुभ भावों को सहचारी एवं साधक कहा जावे तो कोई दोष नहीं है। लेकिन उपरोक्त प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन से किए गए शुभ भावों को तो कारणपने का उपचार भी नहीं आता। जैसे द्रव्यलिंगी मुनिराज को अनन्तानुबन्धी के सद्भाव में किसी भी प्रकार से किए गए शुक्ल लेश्या के परिणाम भी मोक्षमार्ग के लिए साधनभूत नहीं होते। तथा भावलिंगी आचार्य को शिष्यों को प्रायश्चित आदि दण्डात्मक नीति अपनाते समय अशुभ लेश्या के भाव भी मोक्षमार्ग में सहचारी कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी को मोक्षमार्ग रूपी प्रयोजन सिद्ध करने के पुरुषार्थ में संलग्न रहना चाहिए; ऐसे पुरुषार्थ में सहजरूप से शुभभाव ही होते हैं। शुभ भाव करने के प्रयास में न तो मोक्षमार्ग के लिये उपयोगी शुभ भाव होते हैं और न ऐसे भावों को मोक्षमार्ग सिद्ध करने में कारणपना आता है।

आत्मार्थी की पात्रता

जिस आत्मार्थी ने दर्शन मोह के नाश करने के लिये दृढ़ संकल्प किया है ऐसे आत्मार्थी की रुचि की अन्तर्दशा, अज्ञानी की अपेक्षा परिवर्तित हो जाती है। सिद्ध भगंवान को प्रगट अतीन्द्रियआनन्द एवं ज्ञान प्राप्त करने के लिये रुचि तीव्र हो जाती है एवं संसार देह तथा भोगों के प्रति उदास सा रहता है। ऐसा आत्मार्थी यथार्थ मार्ग प्राप्त करने का सघन प्रयास करता है।

जब-जब प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार का अध्ययन करता है तो उसके द्वारा शुद्धोपयोग के प्रसाद से प्राप्त अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुख का विवेचन समझकर उसकी रुचि और भी तीव्र हो जाती है। तत्पश्चात् शुभ परिणाम अधिकार के अन्तर्गत गाथा ८० में वर्णित दर्शन मोह के नाश का उपाय पढ़ने मात्र से ही आत्मार्थी का वीये उछलने

लगता है। ऐसा आत्मार्थी ही गाथा ८० की टीका के प्रथम चरण द्वारा बताई हुई, सरल विधि को पूर्ण रुचि के साथ समझता है; और समझता ही नहीं वरन् तद्नुकूल परिणमन करके दर्शन मोह का नाश करने के लिए वीर्य अन्तर में उल्लसित हो उठता है।

ऐसा आत्मार्थी उक्त टीका के उत्तर चरण में बताई हुई विधि का अन्तर में प्रयोग करके अवश्य सफलता प्राप्त करेगा। इसप्रकार का आत्मार्थीपना जाग्रत हुए बिना अज्ञानी यथार्थ रुचि के अभाव में क्षायोपशमिक ज्ञान के बल से मार्ग को बुद्धिगम्य तो कर लेगा लेकिन अन्तर परिणति में परिणमन नहीं होगा। फलतः स्वयं लाभान्वित नहीं हो सकेगा।

सचेतन अचेतन परिकर से परिणति समेटना

उपरोक्त अन्तर भावना के साथ-साथ अन्तर में इसप्रकार की श्रद्धा जाग्रत हो कि मेरे ज्ञान में ज्ञात होने वाले सभी ज्ञेय तो हर प्रकार से मेरे से भिन्न हैं। वे सब स्वतंत्र द्रव्य हैं, उनकी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता है, वे स्वयं अपना-अपना उत्पाद व्यय करते हुए परिणमते रहते हैं, अतः न तो वे मेरे हैं और न मेरे आधीन ही हैं इसलिए मैं उनमें किसीप्रकार का कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। अतः उन पर स्वामित्व मानना अथवा परिवर्तन करने का अभिप्राय तो मिथ्या मान्यता ही है। वे तो मेरे जानने की भी अपेक्षा नहीं रखते और अपनी योग्यतानुसार परिणमन करते ही रहते हैं। मेरे नहीं जानने से उनका कार्य रुकता नहीं और जान लेने से गतिशील नहीं हो जाता आदि-आदि विचारों द्वारा अपनी अन्तर परिणति को ज्ञेय मात्र की ओर से समेटकर आत्मलक्ष्यी करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार के ज्ञेयों में समस्त नोकर्म, स्त्री, पुत्रादि, सचेतन परिकर एवं मकान जायदाद मोटर, बंगला, धन आदि अचेतन परिकर जो सभी

प्रकार से मेरे से प्रत्यक्ष भिन्न दिख रहे हैं। इसीप्रकार जीवन भर साथ में रहनेवाला यह मेरा शरीर भी अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्र परिणमता रहता है, अनेक प्रकार की आज्ञाऐं करते हुए भी, कोई सफल नहीं होती क्योंकि वह भी स्वतंत्र सत्तावान पदार्थ है। लेकिन मेरी परिणति हमेशा इन्हीं में उलझी रहती है। इसलिए जब तक मेरी वृत्ति इन उलझनों से नहीं छूटेगी तब तक आत्मानुभव करने का मार्ग प्रारम्भ ही नहीं हो सकेगा आदि विचारों के द्वारा अपनी वृत्ति को उनकी ओर से समेटकर अन्तर्मुखी करना चाहिए।

यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि उपरोक्त प्रकार के विचार (विकल्प) तो यह जीव अनन्त बार कर चुका एवं संसार, देह, भोगों से एवं परिवार तथा शरीरा से विरक्ति एवं उदासीनता आदि क्रियायें भी अनन्तबार करता रहा है। लेकिन अस्तिपक्ष का अर्थात् अपने त्रिकाली ज्ञायक सिद्ध स्वभावी ध्रुवतत्त्व में अपनापन आकर ज्ञेय मात्र के स्वतंत्र परिणमनों की श्रद्धा के आधार पर, परपना आकर, कर्तृत्व बुद्धि के अभावपूर्वक जो सहज उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ऐसा पुरुषार्थ कभी नहीं किया। जिसके फलस्वरूप वृत्ति (परिणति) सहज रूप से सिमटकर आत्मलक्ष्यी हो जाती है। वास्तव में ऐसे जीव का आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ आत्मानुभव के योग्य होता है। परज्ञेयों के प्रति परपने की मान्यता उत्पन्न हुए बिना मात्र परज्ञेयों से विरक्ति के भाव अथवा विकल्प भी आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं कर सकते। ऐसी क्रिया से पुण्य बन्ध तो हो सकता है लेकिन मोक्षमार्ग में लाभकारी नहीं हो सकती, अपितु बाह्य क्रिया का अभिमान होकर, अपने को दूसरों से ऊँचा मानने लगे तो पाप बंध हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि जब तक त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवरूप अपने अस्तित्व की श्रद्धा जाग्रत नहीं हो और उसमें अहंपना नहीं आवे तब तक मात्र नास्तिपक्ष का निर्णय कार्यकारी नहीं होगा। अपने ध्रुव की श्रद्धा द्वारा वृत्ति सहज रूप से पर की ओर से सिमटकर आत्मलक्ष्यी हो जाती है।

ज्ञेय मात्र के प्रति मध्यस्थता के साथ उपेक्षा भाव आ जाता है। ऐसा पुरुषार्थ ही वास्तव में आत्मानुभव में सार्थक हो सकता है।

द्रव्यकर्मों से परिणति समेटना

द्रव्यकर्म एवं भावकर्मों के संबंध में भी उपरोक्त प्रकार से समझकर उनके भी परिणमन की स्वतंत्रता समझते हुए, उनकी ओर जाने वाली वृत्ति को भी समेटकर आत्म सन्मुख करना चाहिए। इस सन्दर्भ में विचार किया जावे तो द्रव्यकर्म जो आत्मा के साथ अनादि से चले आ रहे हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के परमाणु हैं। वास्तव में तो आत्मा उनका कर्ता-धर्ता हो ही नहीं सकता, वे तो भावकर्मों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध करके अपनी-अपनी योग्यता से आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर चले आ रहे हैं, जब भावकर्म उत्पन्न ही नहीं होंगे तो वे मेरे साथ बंधन को कैसे प्राप्त हो सकेंगे इसलिए मुझे तो भावकर्म उत्पन्न ही नहीं हों, ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए। अतः उनकी चिन्ता करके मैं दुखी क्यों बनूँ, वे अपने-अपने समय पर अपने स्वतंत्र परिणमन से परिणमते रहेंगे, मैं तो उनकी ओर जाने वाली वृत्ति को समेटकर, अपनी परिणति को आत्मलक्ष्यी कर लूँ तो, वे अपनी-अपनी योग्यता से उनकी स्थिति पूर्ण कर बिना फल दिए स्वयं निर्जरित हो जावेंगे। अतः मैं तो उनके अभाव करने की चिन्ता से भी निर्भार हूँ, निश्चिंत होकर अपनी परिणति को आत्मा की ओर एकाग्र करने का पुरुषार्थ करूँ मात्र यही कर्तव्य है।

भावकर्मों से भी वृत्ति समेटकर आत्मसन्मुख करना

उपरोक्त कथित सचेतन, अचेतन परिकर एवं नोकर्म तथा द्रव्यकर्मों से भावकर्मों की स्थिति भिन्न प्रकार की है। वे सब तो अचेतन पुद्गल द्रव्य की जाति के होने से, उनके तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों ही आत्मा से भिन्न हैं अतः उनका तो वास्तव में आत्मा से किसीप्रकार का संबंध बनता ही नहीं। विपरीत मान्यता से अज्ञानी प्राणी उनके साथ संबंध मान

लेता है। इसीकारण ऐसे कथन को जिनवाणी में असद्भूत व्यवहारनय के विषय कहा है; आत्मा किसीप्रकार भी इनका कर्ता-धर्ता नहीं है।

लेकिन भावकर्मों की स्थिति इनसे भिन्न प्रकार की है। भावकर्म तो जीवद्रव्य की पर्यायें हैं। ये तो चेतन जीव द्रव्य की चेतन पर्यायें हैं, इसलिए इनके संबंध को जिनवाणी में सद्भूत नय का विषय कहा है; लेकिन ये आत्मा के स्वाभाविक परिणमन नहीं होने से व्यवहार कहकर ऐसे संबंध को हेय बताया है।

इसलिए जिसप्रकार असद्भूत नय के विषयों के साथ सभीप्रकार के सम्बन्ध मानना आत्मा को छोड़ना है, लेकिन भावकर्मों से तो मात्र अपनत्व छोड़ना है। ये भावकर्म मेरे ही द्रव्य की सत्ता में उत्पन्न होते हैं और इनके विभावरूप परिणमन से आत्मा का अहित भी हो रहा है इसलिये इनको अपना एवं हितकर नहीं माना जा सकता। इसप्रकार भावकर्मों का अपने में सद्भाव स्वीकारते हुए भी, उनको शुद्ध करने के लिए अर्थात् विभावपने का अभाव करके स्वाभाविक बनाने के लिए उनका स्वामित्व छोड़कर पर ही मानना पड़ेगा। जैसे किसी व्यक्ति ने किसी को अपना मित्र मान रखा हो और फिर उसे विश्वास हो जावे कि वास्तव में यह तो मेरा शत्रु है; तो सर्वप्रथम उसके साथ अपने मित्र होने के भाव का अभाव होगा तत्पश्चात् उसके साथ सहज ही सम्बन्ध छूट जावेगा, छूटे बिना रह ही नहीं सकता। इसीप्रकार भावकर्मों के साथ अपनेपने की मान्यता छोड़नी है; अपने शत्रु को मित्र मान लेना जितनी भयंकर भूल है वैसी ही यह मान्यता है। ये सब तो हेय तत्त्व हैं; उनसे प्रेम कैसा? अपनापन छोड़ने पर उनका उत्पन्न होना सहज ही रुक जावेगा अर्थात् संवर हो जावेगा। फलस्वरूप स्वाभाविक पर्यायें उत्पन्न होने लग जावेगी इसप्रकार हमारा प्रयोजन सफल हो जावेगा।

अन्य प्रकार से विचार किया जावे तो, हर एक आत्मार्थी की भावकर्मों के अभाव करने की भावना तो सहज रूप से होती ही है लेकिन

अभाव करने का वास्तविक उपाय नहीं समझा जाता। भावकर्म जो उत्पन्न हो गया, उसका तो दूसरे समय व्यय अवश्य हो ही जाता है तो नाश करना रहता ही नहीं और जो उत्पन्न हुए ही नहीं, उनका नाश करने का प्रश्न ही नहीं रहता लेकिन फिर भी उनके उत्पन्न होने की परम्परा समाप्त नहीं होती।

प्रश्न — लेकिन जिनवाणी में तो इनके नाश करने की प्रेरणा दी गई है?

उत्तर — जिनवाणी में स्पष्ट विधान है कि जो संवरपूर्वक निर्जरा होती है, मात्र उसी को मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत अर्थात् कार्यकारी कहा है; और उसी को भावकर्मों का अभाव माना है। इससे स्पष्ट है कि उक्त कथन का अभिप्राय ही यह है कि उनका नवीन उत्पादन रोकना। उस ही का नाम भावकर्मों का अभाव करना है। क्योंकि उत्पन्न हो गये हैं वे तो स्वयं ही व्यय हो जावेंगे लेकिन नवीन उत्पादन बंद हो जाने से उनकी परम्परा नष्ट हो जावेगी। इसप्रकार संवरपूर्वक नाश ही उपादेय है और मोक्षमार्ग का साधक है। अज्ञानी प्राणी उपरोक्त वास्तविक उपाय को ग्रहण नहीं करके जो भावकर्म उत्पन्न हो जाते हैं उनके नाश करने की चेष्टा करता रहता है और ऐसे विकल्पों में ही संलग्न रहता है। फलस्वरूप तीव्र राग से पलटकर मंदराग होकर रह जाता है। इसीप्रकार की परम्परा चलती रहती है और इस ही को वास्तविक मोक्षमार्ग मान लेता है फलतः वास्तविक उपाय से वंचित रह जाता है। वास्तविक उपाय तो भावकर्मों के उत्पादक कारणों का अभाव करना है।

भावकर्मों से छुटकारा कैसे मिले?

वास्तव में आत्मा में भावकर्म नवीन तो उत्पन्न हुए नहीं हैं अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं साथ ही इस जीव की पररूप अपना अस्तित्व मानने की मिथ्या मान्यता भी अनादि से चलती चली आ रही है। अज्ञानी

को स्व का तो ज्ञान ही नहीं है, फलतः शरीरादि पर पदार्थों को ही स्व माना हुआ है और जो अपने शरीर के संबंधी नहीं हैं उनको पर मानता चला आ रहा है। ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का विपरीत प्रयोग करता रहता है। इसप्रकार अपने स्वरूप से अजानकार रहता हुआ, भ्रमण करता रहता है।

इसलिए भावकर्मों का अभाव करने के लिए सर्वप्रथम तो अपने स्व का अर्थात् त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व का स्वरूप समझकर, उसमें अपनापन अर्थात् उस रूप ही अपना अस्तित्व मानकर ज्ञान एवं श्रद्धान में प्रगटकर एक स्व के अतिरिक्त ज्ञान में ज्ञात होने वाले सब कुछ परज्ञेय के रूप में भासने लगे, ऐसी स्थिति आत्मा में उत्पन्न करना ही भावकर्मों के अभाव करने का उपाय है।

अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर ज्ञानी हो जाने पर भी भावकर्मों का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता परज्ञेयों को पर मान लेने पर भी, परज्ञेयों में जब तक किंचित् भी आकर्षण रहेगा, चारित्र अर्थात् लीनता की कमी के कारण भावकर्म अवश्य होते रहेंगे, लेकिन ज्ञानी उनको क्रमशः क्षीण करता हुआ, सर्वथा अभाव करके स्वयं परमात्मा बन जावेगा। मात्र यह एक ही भावकर्मों के अभाव करने का उपाय है। भावकर्मों को बुरा कहते रहने से भावकर्मों का अभाव नहीं हो सकता।

भावकर्म उत्पन्न कैसे होते हैं?

वास्तव में भावकर्मों का उत्पादक आत्मद्रव्य नहीं है क्योंकि आत्मा के अनन्त गुणों में ऐसा कोई गुण नहीं है, जो भावकर्म उत्पन्न कर सके? फिर भी वे पर्याय में विद्यमान तो हैं। तथा द्रव्यकर्म अचेतन पुद्गल द्रव्य है उनका जीव में अत्यन्ताभाव है उनका उदय होना, पुद्गलों का परिणमन है, अतः वे भी भावकर्मों को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए वास्तविक उत्पादक कारण पता लगाना चाहिये।

हमारे अनुभव में हैं कि जीव अनादि का है और भावकर्म भी यह अनादि से करता चला आ रहा है, इससे सिद्ध है कि भूल भी अनादि की ही है। जीव स्वयं एक द्रव्य है और अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड रहते हुए परिणमता भी है। द्रव्य और गुण तो अविकृत परम शुद्ध ही हैं व शुद्ध ही रहते हैं फलतः उनका परिणमन भी अविकृत ही होना चाहिए लेकिन होता इससे विपरीत है।

अनन्त गुणों में से मुख्य तीन गुणों को लेकर विचार करते हैं। आत्मा के ज्ञानगुण का कार्य तो मात्र जानने का है और जानना भी स्व एवं पर को एक साथ जानना है। यह जानना हर समय होता ही रहता है। उसी समय श्रद्धा गुण भी अपना मानने का कार्य करता रहता है। साथ ही चारित्र गुण भी अपने में लीन होने का कार्य करता है। इसप्रकार एक साथ ही तीनों गुण अपनी योग्यता से अपना-अपना कार्य करते हैं। इन तीन गुणों में ज्ञानगुण ही एक ऐसा है जो स्व एवं पर को एक साथ जानने वाला है। लेकिन छद्मस्थ के क्षायोपशमिक ज्ञान की ऐसी निर्बलता है कि वह स्व एवं पर दोनों को एक साथ उपयोगात्मक नहीं जान सकता अर्थात् एकाग्र नहीं हो सकता। ज्ञान में उपयोगात्मक विषय ही ज्ञात होता हुआ लगता है, दूसरे ज्ञेय नहींवत् रह जाते हैं। उपरोक्त स्थिति वर्तने पर अज्ञानी जीव तो पर को स्व मानकर, पर में एकत्व करके मिथ्यात्व रागादि रूप भावकर्मों का उत्पादन करता है और ज्ञानी हो जाने पर वही जीव मिथ्यात्व संबंधी रागादि का उत्पादन नहीं करता। फिर भी ज्ञानी को चारित्र मोह संबंधी भावकर्म होते हैं। लेकिन उस विषय की चर्चा यहाँ नहीं करेंगे क्योंकि हमारा विषय दर्शनमोह संबंधी भावकर्मों के उत्पादक कारणों के अभाव करने का उपाय खोजना है।

अज्ञानी जीव ने अनादि से परज्ञेयों को स्व मानते हुए उनमें ही अपनापना मान रखा है, श्रद्धा में ऐसी भूल अनादि से चली आ रही है। उस समय का ज्ञान भी पर को स्व के रूप में जानता हुआ मिथ्याज्ञान हो

जाता है। तत्समय ही चारित्र गुण भी विपरीत परिणमता है, उसका कार्य है, श्रद्धा के विषय में लीन होना। लेकिन यहाँ अज्ञानी ने पर को स्व माना है इसलिये उसमें लीन हो नहीं सकता, फलतः राग और द्वेष का उत्पादन करता हुआ मिथ्याचारित्र हो जाता है।

इसप्रकार अज्ञानी अनादि से श्रद्धा की विपरीतता के कारण मिथ्यात्व संबंधी भावकर्म तथा चारित्र की विपरीतता से चारित्र मोह संबंधी मिथ्या चारित्र रूप भावकर्मों का उत्पादन अनवरत रूप से करता चला आ रहा है। ज्ञान ने तो जैसा था वैसा प्रकाशित किया था। इसप्रकार सभी भावकर्मों का वास्तविक कर्ता तो अज्ञानी ही हैं, उसकी पर्याय तत्समय की योग्यतानुसार परिणमती रहती हैं। लेकिन आत्मा अभेद, अखण्ड होने से पर्याय का परिणमन भी द्रव्य का ही है। अतः श्रद्धा गुण के विपरीत परिणमन के समय पूरा द्रव्य ही पर्याय में विकारी एवं अशुद्ध हो जाता है तथा पर्यायों के परिणमन का फल आकुलता का वेदन भी पूरे आत्मा को ही भोगना पड़ता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि मिथ्यात्वरूपी भावकर्म का उत्पादन आत्मा की विपरीत मान्यता एवं तत्समय की पर्यायगत योग्यता है। पर्याय का काल एक समय मात्र का है, लेकिन दूसरे समय नवीन भावकर्म फिर उत्पन्न हो जाते हैं। इसीप्रकार अनादि से इन भावकर्मों के उत्पन्न विनष्ट होने की परम्परा अनवरत रूप से चली आ रही है। इनका उत्पादक न तो आत्मा ही है और न कर्म आदि परद्रव्य ही है। इसप्रकार की भूल भी हर समय नवीन-नवीन पर्याय में अज्ञानी आत्मा करता है एवं उसका फल रागादि एवं आकुलता का उत्पादन भी पर्याय में ही होता है लेकिन फल तो आत्मा को ही भोगना पड़ता है।

भावकर्मों के साथ द्रव्यकर्मों का निमित्त-नैमित्तिकपना

भावकर्मों के उत्पादक तो द्रव्यकर्म हैं नहीं। लेकिन पुद्गल द्रव्य की वर्गणायें अपनी-अपनी योग्यता से आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह

संश्लेष रूप से बंधी चली आ रही हैं। वे वर्गणायें बंधने के समय अपनी-अपनी योग्यता से, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग को लेकर बंधी हैं। अतः वे योग्यतानुसार अपनी स्थिति पूर्ण होने पर अपने-अपने अनुभाग के साथ जिस जाति के भावकर्म के निमित्त बनने की योग्यता लेकर बंधीं थीं; उसी को लेकर उदय में आती हैं। उसीसमय आत्मा ने जितना विकार किया हो। मात्र उतने ही अनुभाग का आत्मा के विकार के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहलाता है, बाकी का निमित्त नहीं कहलाता। आत्मा के भावों से अधिक द्रव्य कर्मों का अनुभाग होने पर, स्थिति बंध समाप्त हो जाने के कारण, वे प्रकृतियाँ बिना फल दान करे ही निर्जरित होकर परमाणु रूप हो जाती है; उनका आत्मा के साथ रहना या आत्मा से अलग हो जाना आत्मा के लिए प्रयोजनभूत नहीं है।

उपरोक्त निमित्त-नैमित्तिक संबंध से होने वाली कर्म प्रकृतियों के संबंध में विस्तार से जानना हो तो करणानुयोग के ग्रन्थों से समझना चाहिए यहाँ तो संक्षेप में मात्र इस दृष्टि से चर्चा की गई है कि द्रव्यकर्मों के उदय के अनुसार जीव के भाव नहीं होते, अपितु जीव के भावों के अनुसार कर्मों के अनुभाग का उदय होता है इसलिए मात्र उतने ही अनुभाग के साथ तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहलाया शेष अनुभाग बिना फल दिए निर्जरित हो जाते हैं। तात्पर्य ऐसा है कि आत्मा अपने भाव करने में स्वतंत्र है, कर्मों के अधीन नहीं है।

साथ ही वे भावकर्म स्वाभाविक भी नहीं हैं। जब आत्मा स्व को भूलकर पर में अपनापन करता है, तो परलक्ष्यपूर्वक परज्ञेयों में एकत्व कर लेता है; फलतः भावकर्मों का उत्पादन करता है।

तात्पर्य यह है कि भावकर्म न तो आत्मा के भण्डार में से आते हैं और न द्रव्य कर्म ही उत्पन्न करते हैं वरन् यह आत्मा ही अपनी मिथ्या मान्यता के कारण पर को निमित्त करके तत्समयवर्ती पर्याय में विकार उत्पन्न कर लेता है। ध्यान रहे निमित्त-नैमित्तिक संबंधमात्र पर्याय का

पर्याय से ही होता है द्रव्य से नहीं। दोनों ही पर्यायें अनित्यस्वभावी हैं इसलिए अगर आत्मा यथार्थ मार्ग अपनाकर पुरुषार्थ करे तो भावकर्म उत्पन्न ही नहीं हो, क्योंकि पर्याय तो हर समय नवीन उत्पन्न होती है।

सारांश यह है कि आत्मार्थी को उपरोक्त स्थिति समझकर गुरु उपदेश, जिनवाणी का अध्ययन, सत्समागम तथा चिन्तन-मनन आदि जैसे भी बने वैसे परज्ञेयों में अपनेपने की मान्यता को छोड़कर अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनापन स्थापन करना चाहिए। यही एकमात्र करने योग्य कार्य है।

भावकर्मों का कर्त्ता नहीं मानने से स्वछन्दता का भय

अज्ञानी को अनादि से भावकर्मों का स्वामित्व एवं कर्तत्वपना चला आ रहा है। उनके अभाव करने के लिए प्रथम अपने में अपनापन स्थापन करना पड़ेगा। अपनापन श्रद्धा गुण का कार्य है। त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनापन आते ही, स्वतः पर में अपनापन छूट जाता है। क्योंकि दो में एक साथ अपनापन रह ही नहीं सकता। (कारण एक गुण की दो पर्यायें नहीं हो सकतीं)। सहज रूप से उनमें हेयभाव उत्पन्न हो जाता है। हेयभाव होने से क्रम-क्रम से अशुद्धता घटती जाती है। फलतः संसार अभाव होने की श्रृंखला (परम्परा) प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए ऐसे आत्मार्थी को कभी स्वच्छन्दता हो नही सकती।

अज्ञानी कथन का मर्म समझे बिना तथा अपने अन्तर में वीतरागता प्रगट करने का उद्देश्य निर्णीत करे बिना ही रुचि रहित क्षयोपशम ज्ञान से उपदेश का अभिप्राय विपरीत पकड़कर भावकर्मों का कर्तृत्व स्वामित्व छोड़ने के मात्र विकल्प करेगा तो ऐसे अज्ञानी को स्वच्छन्द होने का अवकाश रहता है। लेकिन यह तो अज्ञानी का दोष है, उसे तो अनन्त संसारी रहना था और कथन को विपरीत समझने से भी अनन्त संसारी ही रहेगा; मात्र एक दो भव नरक आदि कुगति में जा सकता है। लेकिन उपरोक्त भय से सत्यार्थ मार्ग का निषेध करने से तो बहुत जीवों का बहुत

बुरा हो जावेगा।

इसलिए वीतरागता उत्पन्न करने के उद्देश्य पूर्वक सत्यार्थ उपदेश का मर्म समझकर ध्रुवस्वभावरूप अपना अस्तित्व मानकर परज्ञेय मात्र में अपनेपने का अभाव करना चाहिए।

पर्याय से अपनापना कैसे छूटे ?

वास्तव में पर्याय तो द्रव्य का अभिन्न अंग है, इसलिए उसे द्रव्य से बाहर करना नहीं है; मात्र उससे एकत्व अर्थात् अपनापना मानना छोड़ना है। कारण मेरा प्रयोजन तो पूर्ण वीतरागता प्रगट कर भगवान बनना है, उसमें जो भी बाधक हो वे सब हेय मानने योग्य है। इसलिए पर्याय का प्रेम छोड़ना ही प्रयोजनभूत है।

मैं तो नित्य स्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ और पर्यायें सभी एक समयवर्ती अनित्यस्वभावी हैं; इसलिए दोनों के स्वभाव विपरीत होने से मैं पर्याय को अपना नहीं मान सकता।

तीसरी अपेक्षा यह भी है कि पर्याय के साथ एकत्व रखने से पर्याय में शुद्धि नहीं हो सकेगी, रागादि के उत्पादन का रक्षण पोषण ही होता रहेगा। उसमें अपनापन तोड़कर उपेक्षावृत्ति उत्पन्न होने से तो परिणति सिमटकर आत्मलक्ष्यी हो जावेगी; फलस्वरूप पर्याय में भी शुद्धि होना प्रारम्भ हो जावेगा। अर्थात् वीतरागता का उत्पादन प्रारम्भ हो जावेगा।

इसप्रकार पर्याय की ओर से भी परिणति को समेटकर, आत्मलक्ष्यी करने से, आत्मानुभव प्राप्त करने की क्षमता प्रगट हो जाती है।

मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञानी हो जाने पर भी भावकर्म तो ज्ञानी के भी होते हैं लेकिन वे मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी रहित, मात्र चारित्र मोह से होते हैं। ज्ञानी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। जो ज्ञान पूर्व में मात्र पर को प्रकाशता था, वही ज्ञान अब स्व-पर दोनों को प्रकाशने लग जाता है। उसमें स्व तो अपना त्रिकाली ज्ञायक भासने लगता है

उसके अतिरिक्त सब ज्ञेय पर के रूप में भासते रहते हैं। इसप्रकार ज्ञानी को चारित्र की निर्बलता से जो भावकर्म उत्पन्न होते हैं उनको अभाव करने का पुरुषार्थ निरन्तर वर्तता रहता है। इसकारण ज्ञानी को तीव्र राग (अशुभ राग) तो सहज घटता जाता है लेकिन सम्पूर्ण अभाव होने तक शुभ राग में हेय बुद्धि होते हुये भी वह बढ़ता जाता है और अन्त में उस राग का भी अभाव होकर मुक्ति प्राप्त हो जाती है। ज्ञानी को शुभ राग होते हुए भी उपादेय बुद्धि नहीं होती।

निष्कर्ष

रुचिपूर्वक उपरोक्त प्रकार के किए गए मन्थन से आत्मार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मैं तो एक मात्र ज्ञायक ध्रुवतत्त्व हूँ। मेरा अस्तित्व अनादि, अनन्त है। अतः मेरा तो अस्तित्व ही ज्ञायक स्वभावी है। सिद्ध पर्याय का अस्तित्व तो सादि अनन्त है लेकिन मेरा अस्तित्व तो अनादि अनन्त है। मैं तो सिद्ध स्वभावी हूँ, मुझे भी कुछ प्राप्त करना नहीं रहा। मैं तो स्वयं ही सर्वज्ञ स्वभावी एवं सुख स्वभावी हूँ आदि आदि निर्णयों से निःशंक होता हुआ संतुष्ट रहता हूँ।

उक्त निर्णयों के साथ आत्मार्थी जब ज्ञेयों की ओर झांकता है तो उसको सभी पररूप ही भासते हैं, कोई स्व के रूप में भासता ही नहीं। उनके परिणमन स्वतंत्र हो रहे हैं; उनके परिणमनों में मेरा किसीप्रकार भी हस्तक्षेप कर्तृत्व आदि का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, अतः उनमें करने धरने संबंधी विकल्प का अवकाश ही नहीं रहता। इसलिए कर्तृत्व आदि के भार से भी निर्भार हूँ। वे परज्ञेय हैं अतः उनको जानने में मुझे न तो राग है और न द्वेष। इन्द्रियों के विषय भोग आदि के भाव एवं मान प्रतिष्ठा आदि के कृत्रिम भावों में भी आकर्षण निकल जाने से सहज ही लौकिक जीवन में परिवर्तन आ जाता है। परिणति सिमटकर आत्मा की ओर आकर्षित हो जाती है।

इसीप्रकार आत्मा के भावों के साथ संबंध रखने वाले द्रव्यकर्म एवं पर्यायों में होने वाले भावकर्म भी विद्यमान हैं, वे भी स्वभाव से विपरीत होने से मेरे नहीं हैं इसलिए पर हैं। द्रव्यकर्म तो पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं, वे अचेतन होने से आत्मा से भिन्न हैं ही; उनके परिणमनों के वे स्वयं कर्ता-धर्ता हैं। उनका स्वामी अथवा परिवर्तन कराने वाला मैं नहीं हूँ वे क्रमबद्ध अपनी योग्यतानुसार परिणमन करते रहते हैं। उनके परिणमन में भावकर्म निमित्त बनते हैं तो भले बनें; उसमें मेरा कर्तृत्व नहीं है। विकारी पर्याय से भी मेरा स्वपने का संबंध नहीं है। क्योंकि जो पर्याय उत्पन्न हो गई वह तो अपनी योग्यता से व्यय अवश्य हो जावेगी और जिसका उत्पाद ही नहीं हुआ अथवा जो व्यय हो चुकी है, उसमें तो कुछ होना शक्य ही नहीं है। अतः भावकर्मों के परिवर्तन की चिन्ता भी निरर्थक है। इनके अभाव करने का एक ही उपाय है कि उनमें अपनत्व छोड़कर उनका अपने में संयोग ही नहीं होने दूँ तो उनके उत्पादन की श्रृंखला ही टूट जावेगी।

आत्मा अपनी ही पर्याय को पर कैसे माने?

प्रश्न — भावकर्म तो आत्मा की ही पर्याय है, उसको पर कैसे माना जावे?

उत्तर — पर्याय आत्मा का अंग होते हुए भी वह जब तक स्वभाव से विपरीत परिणमती रहेगी, मेरे परिवार में सम्मिलित नहीं की जा सकती। उक्त पर्याय ने मेरा (ध्रुव का) आश्रय छोड़कर पर का आश्रय कर संयोग कर लिया; और स्वभाव से विपरीत परिणमती है ऐसी पर्याय मेरी नहीं हो सकती। पर्याय को स्वाभाविक परिणमने योग्य बनाने का उपाय यही है कि उसमें अपनत्व छोड़ देना चाहिए। आश्रय विहीन होकर, अगर गुरु उपदेश आदि से सद्बुद्धि प्रगट हो तो जैसे जैसे शुद्धता उत्पन्न करती जावेगी, उतने-उतने अंश में अटूट आनन्द का स्वाद भी उसको प्राप्त होता जावेगा।

उपरोक्त कथन का अभिप्राय ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि भावकर्म को पर अथवा परकृत मान लेने से आत्मा भावकर्म का अपराधी नहीं है। भावकर्म आत्मा की ही पर्यायें हैं लेकिन जब तक उनमें अपनेपन की मान्यता रहेगी, तब तक हेय बुद्धि तथा उसके अभाव करने का भाव ही नहीं होगा। इसलिए उनमें अपनेपने का अभाव करना अनिवार्य है, ऐसा होते ही रागादि का क्षीण होना प्रारम्भ हो जाता है। फिर भी जब तक पूर्ण वीतरागी न हो तब तक अपनत्व रहित के रागादि ज्ञानी को भी उत्पन्न होंगे और उसके ज्ञान में ज्ञात भी होंगे और उत्पन्न होने को अपना अपराध भी मानेगा तथा निरन्तर अभाव करने का पुरुषार्थ भी करता रहेगा। पुरुषार्थ भी यही है कि त्रिकाली ज्ञायक में आकर्षण बढ़ाते हुए पर के प्रति आसक्ति तोड़ना यह ही उनके अभाव करने का पुरुषार्थ है। इसप्रकार उनके उत्पादन की श्रृंखला तोड़कर पूर्ण वीतरागी बन सकता है।

इसलिए द्रव्यकर्मों एवं भावकर्मों तथा अपनी पर्यायों से अपनेपन का संबंध छोड़कर निर्भार हो जाना चाहिए। वास्तव में मैं तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ और पर्यायें तो अनित्यस्वभावी हैं। विकारी दशा में वे आस्रव बंध रूप थीं तब भी तथा संवर निर्जरा मोक्ष रूप हो जावें तब भी, रहेगी तो अनित्य स्वभावी ही। इसलिए जब तक उनके प्रति आकर्षण रहेगा राग की उत्पत्ति होगी। इसलिए मैं तो मात्र अकर्ता ज्ञायकतत्त्व हूँ। पर्याय को शुद्ध होना हो तो वह मेरा आश्रय ले तो स्वयं वे शुद्धता प्राप्त कर लेगी। मुझे तो पर्याय को भी शुद्ध करने की जिम्मेदारी नहीं है। पर्याय ध्रुव के जैसी शुद्ध हो जावेगी तो वह भी अभेद होकर अनन्त काल तक मेरे भण्डार को भोगने का आनन्द प्राप्त कर लेगी।

उपरोक्त प्रकार से अपनी परिणति को सब तरफ से समेटकर सिद्धस्वभावी त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में अपनापन स्थापन करना चाहिए।

उपसंहार

उपरोक्त प्रकरण तो भगवान अरहन्त की आत्मा समझकर अपनी पर्याय समझने के पूर्व की पात्रता का है। जिस आत्मार्थी ने स्वयं अरहन्त बनने का ध्येय बना लिया हो ऐसे आत्मार्थी की रुचि तो उग्र हो ही जाती है, ऐसे आत्मार्थी को दर्शनमोह के नाश का उपाय समझने का पुरुषार्थ जाग्रत हो जाता है। उसकी परिणति निर्भार होकर अपने स्वभाव में जाने के लिए उत्साहवान होकर, शरण प्राप्त करने के लिए छटपटाने लगती है। ऐसे आत्मार्थी को प्रवचनसार गाथा ८० की टीका का मार्ग निश्चित रूप से कार्यकारी होगा।

उपरोक्त प्रकरण समझकर आत्मार्थी ने यह निर्णय कर लिया कि अब मैं सबकी ओर से अपनी परिणति को समेटकर निर्भार करता हूँ। त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव ही मेरा है, वही ध्रुव है और वही मैं हूँ, वहाँ आनन्द ही आनन्द है, वही आकर्षण का विषय है एवं वही जानने योग्य भी है अतः परिणति उसकी शरण लेने को उत्साहवान हो जाती है।

भावकर्म संयोगी भाव हैं। आत्मा पर के साथ संयोग करे तो वे उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। इसलिए वे सब पर हैं। अतः उनको शुद्ध करने की चिन्ता से भी मुक्त हो गया हूँ, परिणति को समेटकर अन्तर्मुखी कर ज्ञायक से सम्मिलन करने को चेष्टित हो गया हूँ।

उपरोक्त प्रकार से परिणति सभी आकर्षणों से मुक्त हो निर्भार होकर अपने ज्ञायक स्वभाव का आश्रय ढूढती है और पुरुषार्थ अन्तर्मुखी कार्य करने योग्य हो जाता है। ऐसा निकट भव्य ही प्रवचनसार गाथा ८० में बताये मार्ग को अपनाकर दर्शनमोह के नाश करने का अधिकारी हो सकेगा।

उपरोक्त सभी प्रकरणों के द्वारा मार्ग समझकर, अपनी रुचि को अन्तर्मुखी करना ही वास्तविक पात्रता है मात्र समझ लेना नहीं। अतः पात्रता उत्पन्न कर दर्शनमोह के नाश का उपाय करना ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

नयज्ञान

नयज्ञान व उसकी उपयोगिता

हमारे आत्मा का स्थाई भाव ध्रुव एवं अस्थाईभाव पर्याय दोनों ज्ञान के विषय होते हैं और उनको जानने वाली ज्ञान की पर्याय ज्ञायक है। ऐसी ज्ञेय व ज्ञायक की स्थिति है। उन स्थाई-अस्थाई भाव के धारक संपूर्ण आत्मा को एक साथ जानना प्रमाण ज्ञान का विषय है। उस ही प्रमाण के विषय आत्मा को नयज्ञान से समझें तो ध्रुवपक्ष को जानने वाली ज्ञान पर्याय को द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है एवं अस्थाई पक्ष, पर्यायपक्ष को जानने वाली ज्ञान की पर्याय को पर्यायार्थिकनय कहा गया है। द्रव्यार्थिकनय के विषय को द्रव्यदृष्टि का विषय भी कहा जाता है एवं पर्यायार्थिकनय के विषय को पर्यायदृष्टि का विषय भी कहा जाता है। द्रव्यदृष्टि प्रगट करने वाले जीव को धर्मी, साधक, एवं मोक्षमार्गी, आदि अनेक नामों से कहकर जिनवाणी में प्रशंसा की गई है एवं पर्यायदृष्टि जीव तो अपने ज्ञायक स्वभाव से अनभिज्ञ होने के कारण अनादि से अज्ञानी बना हुआ है।

अतः उक्त विषय को महत्वपूर्ण जानकर, गंभीरतापूर्वक, सूक्ष्मदृष्टि से समझना चाहिये। यह ध्यान रखने योग्य है कि अज्ञानी जीव को अनादिकाल से एकमात्र पर्याय में ही अपनापन होने से पर्याय पक्ष ही मुख्य रहा है, उसको तो दूसरे ध्रुवपक्ष का अज्ञान ही वर्त रहा है। अतः ध्रुव पक्ष के अभाव के कारण उसका ज्ञान तो मुख्य-गौण करके जानने में असमर्थ होने से, नय ज्ञान उदित ही नहीं होता। लेकिन ज्ञानी आत्मा ने तो ध्रुवपक्ष का भी दर्शन कर लिया है अतः उसका ज्ञान मुख्य-गौण पद्धति द्वारा दोनों पक्ष जानने की योग्यता प्राप्त कर चुका है। नयज्ञान का उदय ज्ञानी होने पर ही होता है। अज्ञान दशा में नहीं।

ज्ञानी बनने के लिये नयज्ञान की उपयोगिता

उपरोक्त कथन सुनकर हमारे मन में समस्या खड़ी होती है कि हम तो अज्ञानी हैं और हमको नयज्ञान है ही नहीं, तो हमको आत्मदर्शन कैसे हो सकेगा?

ऐसी पुरुषार्थहीनता का विकल्प, सम्यक्त्व सन्मुख जीव को नहीं होना चाहिए। क्योंकि समस्त जिनवाणी के कथन, अज्ञानी आत्मा को ज्ञानी बनाने के लिए ही किये गये हैं, इसलिए हर एक कथन का तात्पर्य समझना चाहिये।

यथार्थतः तो अज्ञानी को नयज्ञान की उपयोगिता आत्मस्वरूप समझाने के लिए ही की गई है। आत्मदर्शन के बाद तो समझना नहीं रह जाता, वहाँ तो ज्ञानी का ज्ञान ही स्वयं नयज्ञान स्वरूप हो जाता है। ज्ञानी का ज्ञान जब अभेद द्रव्य स्थाई पक्ष जानने में उपयुक्त होता है उस समय के ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय एवं निश्चयनय कहा जाता है और जब उसका ज्ञान पर्याय के विषय एवं भेद जानने में उपयुक्त होता है उस ज्ञान को पर्यायार्थिक एवं व्यवहारनय कहा है। इस अपेक्षा से सम्यक् नयज्ञान का उदय ज्ञानी को होता है।

ज्ञान जानने का कार्य तो हर समय करता ही है, कोई समय भी ऐसा नहीं हो सकता कि इसके जानने का कार्य रुक जावे। जानने की स्वाभाविक प्रक्रिया ही ऐसी है कि वह जानने का कार्य जब भी करता है, तब मात्र 'है' इतना ही नहीं जानता वरन् उसी समय स्व और पर के रूप में जानते हुए ही उदित होता है।

द्रव्य में दो पक्ष हर समय विद्यमान हैं, एक द्रव्यपक्ष और दूसरा पर्यायपक्ष। इसप्रकार हर समय आत्मा दोनों पक्षों को जानने का कार्य अनवरत रूप से करता ही रहता है। लेकिन अज्ञानी को पर्याय का ज्ञान होता है। उसके साथ रुचि भी उसकी होती है अतः उसमें अहंपना स्थापन कर लेता है। उसको आत्मा का अस्तित्व पर्यायरूप ही दीखता है। फलतः

आत्मा रागी द्वेषी तथा पर को ही जाननेवाला लगता है, आत्मा का अन्य कुछ स्वरूप हो ऐसा लगता ही नहीं है।

इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष को द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ध्रुवपक्ष, जब ज्ञान का विषय बनता है उसमें ही स्वपना आ जाने से रुचि भी उस ओर आकर्षित हो जाती है और ज्ञान में भी मुख्यता उसही की हो जाती है। फलतः आत्मा वीतरागी, सर्वज्ञस्वभावी, अनन्त आनन्द स्वभावी ही दीखता है। पर्याय पक्ष गौण हो जाने से दीखता नहीं है। इसप्रकार स्वरूप समझकर, तदनुकूल पुरुषार्थ कर अज्ञानी भी ज्ञानी बन सकता है।

नयज्ञान द्वारा आत्मा को समझने की पद्धति

अज्ञान दशा में पर्याय मुख्य होने से एवं उसही में अहंपना एवं उपादेयता होने से आत्मा रागीद्वेषी आदि ही दीखेगा। लेकिन जब जिनवाणी अध्ययन, यथार्थ देशना व सत्समागम से यथार्थ स्वरूप समझने की रुचि जाग्रत हो जाती है, तब रागीद्वेषी दशा में भी द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत त्रिकाल ध्रुव स्वभावी आत्मा विद्यमान है, ऐसा विश्वास जम जाता है। अतः सच्ची निष्ठा से, पूर्व आग्रहों को छोड़कर, वर्तमान दृष्टि गौण कर, अगर आत्मा को समझने की चेष्टा करेगा तो, दृष्टि में अर्थात् श्रद्धा में ध्रुवस्वभावी आत्मा आ ही जावेगा, वर्तमान दृष्टि मुख्य रखकर, दृष्टि में नहीं आ सकता। अतः द्रव्य की दृष्टि से आत्मा देखेगा तो परम वीतरागी सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा ही मैं हूँ - ऐसा दृष्टि में-श्रद्धा में आ जावेगा। ज्ञानी को निःशंक रूप से आत्मा, वीतरागी आदि ही दृष्टि में आने लगेगा।

जैसे उबलता हुआ पानी वर्तमान दृष्टि से देखें तो मात्र गरम ही दीखता है। लेकिन वर्तमान स्थिति को गौण कर पानी के स्थाई भाव को मुख्य कर देखें तो उबलते हुए पानी में भी भेदकदृष्टि ठंडा है ऐसा विश्वास में ले लेती है। उस समय भी जल तो उबल ही रहा है, शीतलता का

अंश भी नहीं है। लेकिन दृष्टि तो सबको भेदती हुई स्वभाव को पकड़ लेती है। ऐसा विश्वास करने के लिए पानी को ठंडा नहीं करना पड़ता।

इसी प्रकार वर्तमान दृष्टि से तो आत्मा रागी-द्वेषी दिख रहा है। लेकिन उबलते पानी के समान आत्मा रागी-द्वेषी बना रहने पर भी, भेदकदृष्टि निश्चितरूप से ध्रुव ज्ञानानंद वीतराग स्वभावी आत्मा को, पकड़ सकती है। यथार्थ दृष्टि प्रगट करे बिना, तो आत्मा रागी-द्वेषी ही दीखता रहेगा और आत्मोपलब्धि संभव नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी है ऐसा विश्वास में तो आ सकता है, लेकिन सीधा ज्ञान का विषय बनाना चाहे तो यह संभव नहीं होगा। दृष्टि में ही यह सामर्थ्य है कि वर्तमान को भेद करके भी त्रिकाली को दृष्टि में पकड़कर उसमें अहंपना, स्थापित कर सकती है। पर्याय गौण हुये बिना ध्रुव स्वभावी आत्मा को विषय बनाना चाहे तो असंभव है मात्र प्रतीति, श्रद्धा, विश्वास में आता है। इसलिए प्रथम भेदकदृष्टि ही स्वभाव को पहिचान कर, उसमें अहंपना स्थापित करती है तब ही पर्याय में वीतरागी होने की प्रक्रिया प्रारंभ होगी एवं ज्ञान में भी अरहंत जैसा आत्मा दीखने लगेगा।

इसके पूर्व तो नयज्ञान के माध्यम से ही आत्मा के वर्तमान स्वरूप को एवं स्थाई स्वरूप को समझना पड़ेगा। पश्चात् अपनी श्रद्धा में यथार्थ स्वरूप प्रगट कर, उसमें अहंपना स्थापित करना पड़ेगा इसमें किसी प्रकार की शंका द्वारा पुरुषार्थहीन होने का अवकाश नहीं है। आत्मा की रागी-द्वेषी दशा बनी रहते हुए भी, मेरी दृष्टि इस दशा को भेदकर आत्मदर्शन कर सकती है, ऐसा उग्र पुरुषार्थ जाग्रत कर आत्मस्वरूप समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

निष्कर्ष

उपरोक्त चर्चा से यह समझ में आता है, कि आत्मा का स्वभाव तो वीतरागी सर्वज्ञ एवं आनन्दस्वभावी है तथा जानना ज्ञान का स्वभाव है। जानने की प्रक्रिया भी स्व को जानते हुए, स्व में स्थित परज्ञेयों के आकारों

को भी जान लेता है। स्व में स्थित स्व तथा पर सम्बन्धी ज्ञेयाकार एक साथ उपस्थित रहते हुए भी, छद्मस्थ का ज्ञान दोनों को एक साथ नहीं जान पाता। इसलिये जानते समय ही एक को मुख्य बनाकर जान सकता है। उस समय अन्य पक्ष स्वतः गौण रह जाता है। जिसको ज्ञान स्व जानता है वह विषय मुख्य हो जाने से उसको मुख्यता से जानती हुई ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है। अतः ज्ञानी को दूसरा पक्ष पर होने से स्वतः उपेक्षित रह जाता है उपेक्षित करना नहीं पड़ता। स्व-पर को, मुख्य गौण करने अथवा हेय उपादेय संबंधी विकल्प करने नहीं पड़ते पूर्व निर्णय के अनुसार स्व में स्वपने की श्रद्धा होने से, ज्ञानी की पर्याय भेदपूर्वक ही उत्पन्न होती है।

आत्मा की स्वाभाविक प्रक्रिया समझ में नहीं आने से, ऐसी श्रद्धा अनादिकाल से कभी भी जाग्रत नहीं हुई। जिस समय स्व को स्व के रूप में ज्ञानपर्याय ज्ञेय बनावे तो वर्तमान में ही आत्मा अरहंत जैसा ज्ञान श्रद्धान में प्रगट हो जावेगा।

नय एवं दृष्टि का अन्तर

द्रव्यदृष्टि एवं द्रव्यार्थिकनय का अन्तर

ज्ञान की जो पर्याय अनन्त गुणों के समुदाय रूप अभेद ध्रुव द्रव्य को स्व के रूप में अपना विषय बनाती है, ज्ञान की उस पर्याय का नाम द्रव्यार्थिकनय है। उस पर्याय के विषय का नाम द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत त्रिकाली ध्रुव स्वभावी अपरिणामी ज्ञायक ऐसा द्रव्य है। उसको समझकर श्रद्धा अपना श्रद्धेय अर्थात् उसमें अहंपना, अपनापन स्थापित करती है, उस श्रद्धागुण की पर्याय को द्रव्यदृष्टि कहते हैं। द्रव्यदृष्टि ने जिस अभेद स्थाई ध्रुवतत्त्व में अहंपना स्थापन किया वह अभेद त्रिकाली भाव ही द्रव्यदृष्टि का विषय है।

द्रव्यार्थिकनय में पर्यायार्थिकनय का विषय अत्यन्त गौण रहता है। द्रव्यदृष्टि में तो पर्यायार्थिकनय का विषय नास्तिरूप ही वर्तता है लेकिन श्रद्धा तो जिसको स्व मानकर अपनापन स्थापित करती है, पूर्ण समर्पित होकर निःशक रूप से उसको ही अपना मानती है। अपने स्व में किसी भी अन्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करती। क्योंकि श्रद्धा गुण की पर्याय में ज्ञान के अनुसार मुख्य गौण की व्यवस्था नहीं है।

ज्ञानगुण सविकल्प है लेकिन श्रद्धागुण तो निर्विकल्प ही है, अतः उसमें द्वेत का सद्भाव ही नहीं रहता। श्रद्धागुण का स्वभाव ही ऐसा है कि वह तो अपने विषय में निःशंकता के साथ अहंपना स्थापित करती है। यही कारण है कि आत्मा के समस्त गुण उस श्रद्धा के अनुगामी होकर प्रवर्तन करने लगते हैं। ज्ञानगुण को यह श्रेय प्राप्त नहीं है।

उपरोक्त कथन ज्ञानी जीव के ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा है। अज्ञानी को तो नयज्ञान का उदय ही नहीं हुआ, अतः उसके ज्ञान में तो मुख्यता गौणता का सामर्थ्य ही प्रगट नहीं हुआ है। द्रव्यार्थिकनय का विषय प्रगट हुए बिना द्रव्यदृष्टि प्रगट होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। लेकिन अज्ञानी भी नयज्ञान के माध्यम से अपने ज्ञान, श्रद्धान की यथार्थ स्थिति व सामर्थ्य समझ सकता है, रुचि का परिवर्तन कर, अनादि से चली आ रही पर्याय दृष्टि का अभाव करके द्रव्यदृष्टि प्रगट कर सकता है। यही नयज्ञान की उपयोगिता है।

पर्यायदृष्टि एवं पर्यायार्थिकनय का अन्तर

ज्ञान की जो पर्याय एकरूप रहने वाले अभेद एवं ध्रुव स्वभावी आत्मद्रव्य को छोड़ अभेद में भेद करके भेदों को जानता हुआ अपना विषय बनावे वह पर्यायार्थिकनय है। अथवा अनित्य स्वभावी एक समय की सत्ता धारण करने वाली पर्याय को विषय बनावे अथवा उस पर्याय से संबंधित अन्य पदार्थों को विषय बनावे, वह ज्ञान की पर्याय भी

पर्यायार्थिकनय है। संक्षेप में कहो तो एकमात्र अभेद ध्रुव स्वभावी आत्मा को छोड़ अन्य किसी को भी विषय बनावे, वह ज्ञान पर्याय पर्यायार्थिकनय है।

पर्यायार्थिकनय ने जिस किसी भी विषय को विषय बनाया, श्रद्धा गुण उसमें ही अपनापन स्थापन कर लेवे तो श्रद्धागुण की उस पर्याय का नाम पर्यायदृष्टि है।

ज्ञानी को पर्यायार्थिकनय होती है, पर्यायदृष्टि नहीं

ज्ञानी जीव का ज्ञान जब पर्याय का ज्ञान करता है तब उसके ज्ञान में द्रव्यार्थिकनय का विषय भी गौण रहकर वर्तता है। ज्ञानी की श्रद्धा ने द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में, निजत्व स्थापन कर लिया है अतः पर्यायार्थिकनय के समय भी उसके, श्रद्धागुण की पर्याय अर्थात् द्रव्यदृष्टि को किंचितमात्र भी बाधा नहीं होती। श्रद्धा तो अपने विषय में निःशंकतापूर्वक अहंपने का कार्य करती ही रहती है अर्थात् द्रव्यदृष्टि बनी ही रहती है। यह तथ्य ही, हर एक गुण की स्वाभाविक स्वतंत्रता का स्पष्ट द्योतक है। द्रव्यदृष्टि अक्षुण्ण बनी रहने के कारण, ज्ञान पर्यायार्थिकनय में प्रवर्तित होने पर भी उसके विषयों के प्रति एकताबुद्धि कर्तृत्व भोक्तृत्व एवं स्वामित्व बुद्धि का हर समय अभाव वर्तता रहता है। फलतः निरन्तर उपेक्षा बुद्धि वर्तती रहती है। इसी आधार को लेकर समयसार के निर्जरा अधिकार में कहा है, ज्ञानी का भोगों में उपयोग होते हुए भी उनके प्रति एकत्व नहीं होने के कारण अज्ञानी के समान अनंत संसार का बंध नहीं होता, लेकिन अल्प संसार का बंध तो अवश्य होता है। दृष्टि तो त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व में अहंपना धारण किये हुए है, उसी समय पर्यायार्थिकनय के विषयभूत भोगादि तो ज्ञान में परज्ञेय के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। अतः उनमें एकत्व के अभाव के कारण, अज्ञानी के जैसी मग्नता, गुद्धता नहीं होती, फलतः अनंत संसार का बंध नहीं होता।

दृष्टि की महिमा बताने की अपेक्षा ही निर्जरा अधिकार का कथन है। दृष्टि के बल से ज्ञानी को भोग में रहते हुए भी ज्ञान और वैराग्य का परिणमन निरंतर वर्तता रहता है, फलतः बहिर्मुख वर्तते हुए अपने उपयोग को पलट कर, शीघ्र ही आत्मसन्मुख कर उसमें तन्मय होकर आनन्द को भोगने का पुरुषार्थ करता रहता है।

अज्ञानी के ज्ञान का विषय तो अनादिकाल से एकमात्र पर्याय ही बना हुआ है और उस ही को "स्व" अर्थात् "मैं" तथा पर्याय के विषयों को ही "मेरे" मानने के कारण, उन ही में उपादेयबुद्धि, कर्ता, भोक्ता एवं स्वामित्वबुद्धि आदि बनी रहने से, श्रद्धागुण भी निःशंकरूप से उन ही में अहंपने वर्तता हुआ, अहंपना करता है। फलतः पूरा आत्मा ही विपरीत वर्तने लगता है। ज्ञेय तो अपने से सर्वथा भिन्न हैं आत्मा कितना भी प्रयास करे उनमें तन्मय तो हो नहीं सकता। फलस्वरूप क्षण-क्षण में विफलता भोगता हुआ अत्यन्त आकुलित होकर, विषय परिवर्तन करता हुआ, अत्यन्त दुःखी बना रहता है। अज्ञानी जीव की यही अनादि काल से चली आ रही दशा है।

दृष्टि का कार्य क्या ?

हमारा प्रयोजन है सुखी होना (सुख प्राप्त करना) है। जिससे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो, वही हमारे लिए उपादेय होता है, यह एक स्वाभाविक स्थिति है। इस अपेक्षा हमको यह निर्णय करना आवश्यक है कि द्रव्यदृष्टि अर्थात् द्रव्य में अहंपना स्थापन करने से मेरे प्रयोजन की सिद्धि होगी अथवा पर्याय में अहंपना स्थापन करने से ? दृष्टि का अर्थ है "अहंपना"।

ज्ञान के जानने में तो द्रव्य एवं पर्याय दोनों आते हैं लेकिन उनका उपयोगात्मक जानने का परिणमन तो क्रमशः होता है। अतः यह मेरी स्वतंत्रता है कि मैं किसमें अहंपना स्थापन करूँ। क्योंकि जानना चाहे जितना भी हो, यह आवश्यक नहीं कि सभी को मैं "मेरा" मानूँ ? इसलिये

द्रव्य एवं पर्याय दोनों में से, जिसको "मेरा" मानने से मेरा प्रयोजन सिद्ध होता हो, उसी में अहं स्थापित करना मेरे लिए हितकर है। ऐसा समझकर हमको हेय-उपादेय का निर्णय करना चाहिए। इसलिए द्रव्यार्थिकनय के विषय में अहंपना स्थापन करना दृष्टि का यथार्थ कार्य है। पर्यायार्थिकनय के विषयों का मात्र ज्ञान, अहंपने के बिना दृष्टि का घातक नहीं होता।

इसप्रकार यह निर्णय में आता है कि द्रव्यदृष्टि संसार के अभाव का कारण एवं पर्यायदृष्टि संसारबृद्धि का कारण है। इन दोनों के लाभ और हानि को समझना चाहिये।

यथार्थ में द्रव्यार्थिकनय अथवा पर्यायार्थिकनय के द्वारा प्रवर्तित ज्ञान लाभ हानि का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का कार्य तो जानना मात्र है। वह तो तटस्थ जैसा रहकर मात्र जानता ही है। पर्यायार्थिकनय के विषयों में अहंपना दृष्टि का घातक है। जानने के समय ही श्रद्धागुण के साथ आत्मा के अन्य गुण भी परिणमते हैं; ज्ञानी का ज्ञान जिसको स्व के रूप में निर्णय करता है एवं ज्ञेय बनाता है, तत्समय ही श्रद्धागुण बिना कोई संकोच करे, उसमें ही अहंपना, "मैंपना" स्थापन कर लेती है। अहंपना स्थापन करते ही मोक्षमार्ग का प्रारंभ हो जाता है। श्रद्धागुण जब अभेद, त्रिकाली, ज्ञायकभाव में अहंपना स्थापन करती है तो आत्मा के समस्त गुण ज्ञान, चारित्र, वीर्य आदि सभी उसके अनुगामी होकर प्रवर्तते हुए श्रद्धा के विषय में तन्मय होने को चेष्टित होते हैं। चारित्र एवं वीर्य की उग्रता के अनुसार आंशिक लीन भी होते हैं, लीन होते ही आत्मा में भरा अनन्त आनंद, का रसास्वादन भी प्रगट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि का उदय होते ही आत्मानंद का प्रत्यक्ष वेदन हुए बिना रह ही नहीं सकता। सत्यार्थ श्रद्धान तथा मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाने का यह ही प्रमाण है। यह हो जाने से आत्मा संसार से उपेक्षित हो उसी आत्मानन्द को बारबार प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता रहता है।

पण्डित बनारसीदासजी ने निर्जरा द्वार में कहा भी है —

"ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषय सुख मांही, यह विपरीत संभवै नाहीं ॥४१॥

आत्मा अरहन्त जैसा ज्ञान में कैसे आता है ?

प्रश्न — प्रवचनसार में कहा है कि ज्ञानी के ज्ञान में आत्मा अरहन्त जैसा प्रगट हो जाता है, वह कैसे ?

उत्तर — यथार्थत: प्रवचनसार गाथा ८० के कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान अरहंत की आत्मा को उनके द्रव्य-गुण पर्याय के माध्यम से जानने पर, हमको हमारी आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। क्योंकि दोनों के स्वभाव में अन्तर नहीं है। ऐसा वर्तमान में ही मुझे विश्वास जाग्रत हो जाना चाहिए। इस ही के आधार पर जब मैं अपने आत्मा का अनुसंधान करता हूँ तो, द्रव्यदृष्टि का विषयभूत जो मेरा आत्मतत्त्व है, वह अंतिम ताव प्राप्त शुद्ध स्वर्ण के समान अरहंत के जैसा स्पष्ट है ऐसा निर्णय में आता है। जिसप्रकार उबलते हुए पानी में ठंडापन स्पष्टरूप से दृष्टि में आता है, उसी प्रकार पर्यायों की विविधताओं के बीच भी अरंहत जैसा मेरा आत्मतत्त्व भी दृष्टि में स्पष्टरूप से नि:शंकता पूर्वक आ ही सकता है। इस ही अपेक्षा ज्ञानी को अपना आत्मा अरहंत जैसा श्रद्धा में आ जाता है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि पर्यायों को गौण कर देने से द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत आत्मा अधूरा रह गया और वह ज्ञान का विषय बनने से दृष्टि अधूरे द्रव्य में अहंपना स्थापन करती है ? दृष्टि तो द्रव्यार्थिकनय के विषय को ही पूर्ण द्रव्य स्वीकार कर, उसमें ही अहंपना स्थापन करती है - दृष्टि में मुख्य गौण की व्यवस्था नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करें कि श्रद्धागुण की पर्याय भी तो आत्मा की है? उत्तर स्पष्ट है कि दृष्टि का विषय तो एक ही होता है, उसने तो त्रिकाली, एक रूप रहने वाले अभेद ज्ञायकभाव में अहंपना स्थापन कर लिया, तब उसके लिये अहं स्थापन करने योग्य किसी अन्य का प्रश्न ही

नहीं रहता। लेकिन उसी समय वर्तने वाली ज्ञानपर्याय में, द्रव्यदृष्टि के विषय का ज्ञान, स्व के रूप में तथा पर्याय और पर्याय के विषयों का ज्ञान पर के रूप में साथ ही वर्तता है। ऐसा होने पर भी पर्याय का ज्ञान, दृष्टि को जरा भी हानि ही नहीं। लेकिन पर्याय का ज्ञान होते समय, अगर स्व को भूलकर, पर्याय को स्व के रूप में जानने लगे तो, द्रव्यदृष्टि का अभाव होकर मिथ्यादृष्टि, पर्यायदृष्टि हो जावेगा। अतः पर्याय एवं उसके विषयों का ज्ञान, दृष्टि को हानि नहीं पहुँचा सकता, वरन् उनमें अहंपना ममत्व होना द्रव्यदृष्टि का नाश कर देता है।

पर्याय की असमानता अरहंतपने की श्रद्धा में बाधक नहीं

वस्तु तो हर समय द्रव्य पर्यायात्मक ही है। द्रव्य (ध्रुव) तो हर समय एक जैसा ही रहता है और पर्याय हर समय परिणमती रहती है। लेकिन देखने वाला आत्मा को जिस दृष्टि से देखता है दृष्टि के अनुसार ही उस समय आत्मा दिखता है, क्योंकि ज्ञान चक्षु दूसरी और को देखने की बंद रहती है। यह तो ज्ञान का स्वरूप है। जिसमें अपनापन होता है, दृष्टि उसके अनुसार ही वर्तती रहती है।

अज्ञानी को तो द्रव्यदृष्टि की चक्षु खुली ही नहीं हैं; अतः वह तो पर्याय दृष्टिपूर्वक ही आत्मा को देखता है अतः उसको तो आत्मा पर्याय जैसा ही दिखेगा। अरहंत भगवान की पर्याय तो उनके द्रव्य के जैसी ही वर्त रही है, अतः उनको तो अन्तर दिखना संभव ही नहीं है।

अरहन्त की आत्मा के द्रव्य से, गुण से एवं पर्याय से भी समानता को प्राप्त हो गई है, अतः उनके ज्ञान से तो द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाती है। अपनी आत्मा को द्रव्यदृष्टि से देखने पर पर्याय दिखेगी ही नहीं। इसप्रकार से अपनी आत्मा को देखने पर असमानता बाधक नहीं रहती।

पर्याय स्वभाव

प्रश्न — हमारी पर्याय को पर कहकर उपेक्षा करने योग्य बताया

वह तो समझ में आया, लेकिन पर्याय का अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जावे ?

समाधान — सत् के दो प्रकार हैं। — एक तो द्रव्यसत् और एक पर्यायसत्। द्रव्यसत् तो अपरिवर्तनीय, ध्रुवद्रव्य है। पर्यायसत् उत्पाद, व्यय पलटता हुआ, मात्र एक- एक समय का सत् है। सारांश यह है कि द्रव्य त्रिकाली सत् है और पर्याय एक समय की मर्यादा मात्र का सत् है। सत् का स्वभाव ही ऐसा है कि अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखता, निरपेक्ष रूप से सत् है। पंचाध्यायीकार ने कहा भी है —

तत्वं सत्लाक्षणिकं, सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धं।
तस्मादनादिनिधनं, स्वसहायं, निर्विकल्पं च॥

अर्थ — "तत्त्व अर्थात् पदार्थ सत्लक्षणवाला है, सत् मात्र है, इसलिये स्वतः सिद्ध है, अतः अनादिनिधन, स्वसहाय एवं निर्विकल्प भी है।" इसप्रकार सिद्ध होता है कि द्रव्य तो सत् है ही लेकिन पर्याय भी द्रव्य के समान ही सत् है। सत् की सत्ता तो निरपेक्ष ही होती है। अतः पर्याय का काल मात्र एक समय भले ही हो लेकिन उस समय उसका उत्पाद तो निरपेक्षरूप ही होता है। उसके अस्तित्व में अन्य कोई सत् न तो हस्तक्षेप कर सकता है और न प्रवाहक्रम को रोक सकता है। अतः सिद्ध है कि पर्याय अपने उत्पाद काल में निरपेक्ष रूप से अपनी योग्यतानुसार परिणमती ही रहती है।

प्रवचनसार गाथा १०२ की टीका से भी इसी का समर्थन प्राप्त होता है। "द्रव्य की स्थितिक्षण के साथ-साथ हर एक पर्याय का अपना-अपना नियत जन्मक्षण है एवं व्ययक्षण है," उस ही समय वह पर्याय उत्पाद व्यय करती ही रहेगी। ऐसा ही पर्याय-सत् का अनादि से नियत प्रवाहक्रम चला आ रहा है एवं अनन्त काल तक चलता ही रहेगा। इसी प्रवाहक्रम को क्रमबद्ध पर्याय के नाम से भी कह दिया जाता है। किसी

भी नाम से बोलो, पर्याय का स्वभाव ऐसा ही है। जिस समय जो पर्याय जिन विशेषताओं को लेकर उत्पन्न होनी होती है, वैसी ही अपनी योग्यता से उसी समय उत्पन्न होती है। इसप्रकार एक-एक समय करके अनन्त काल तक चलते रहने वाला अहेतुक पर्यायसत् है। उसमें परिवर्तन का प्रयास असफल तो होगा ही, साथ ही उसका ज्ञान श्रद्धान भी मिथ्या बना रहेगा।

उपरोक्त जानने से पर्याय के प्रति आकर्षण एवं ममत्वबुद्धि श्रद्धा में समाप्त हो जाती है तथा पर्याय एवं उसके निमित्तों को फेरफार करने संबंधी कर्ताबुद्धि समाप्त होकर उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। साथ ही अकर्ता स्वभावी ज्ञायक के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है।

स्वच्छन्दता के भय का निराकरण

प्रश्न — पर्याय में होने वाले विकार भावों के प्रति भी उपेक्षा से तो स्वच्छन्दता को प्रोत्साहन मिलेगा?

उत्तर — उपरोक्त शंका का समाधान विकारों की उत्पत्ति का कारण समझने से ही होगा। चारित्रगुण की विकृत पर्याय रागद्वेषादि को ही मुख्यता से विकार मानते व कहते हैं और वे ही ज्ञान में आते भी हैं। अत: इस चर्चा में अन्य गुणों के विकारों को गौण रखेंगे। क्योंकि अन्य गुणों के विकार, चारित्र के विकार के अभाव होते ही स्वत: अभाव हो जाते हैं।

समझने के लिये किसी गुण विशेष की पर्याय की अपेक्षा नहीं लेकर अखंड द्रव्य की अपेक्षा से समझेंगे। अखंड द्रव्य का, त्रिकाली भाव तो ध्रुव है एवं पलटता अर्थात् उत्पाद, व्यय वाला भाव पर्याय है। पर्याय का स्वभाव उत्पाद व्यय करते हुए अपनी सत्ता बनाये रखना है। इसका अर्थ ही यह है कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चरित्र, सुख, कर्ता, भोक्ता, वीर्य आदि अनंत गुणों की सामर्थ्यों की व्यक्तता, का उत्पाद तथा व्यय, हर समय होते रहना ही पर्यायगत स्वभाव है। निष्कर्ष यह है

कि हर एक अखंड द्रव्य अपने अनन्तगुणों की व्यक्तता को नवीन-नवीन रूपों के साथ उत्पाद करता हुआ हर समय प्रगट होता है और वह व्यक्तता उस समय का सत् हैं। सत् तो अहेतुक निरपेक्ष होता है। अत: अनंतगुणों की व्यक्तता जो भी जैसी भी उत्पन्न हुई है, अपने कारण से हुई है, वह सत् है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन कोई नहीं कर सकता। ऐसी ही अनादि अनंत वस्तु की व्यवस्था है। इस पर्यायस्वभाव एवं वस्तु व्यवस्था को समझकर ऐसी श्रद्धा जाग्रत होना चाहिए कि एक स्वज्ञेयतत्त्व के अतिरिक्त पर्याय कैसी भी हो एवं पर्याय के विषय भी कैसे हों सबका जैसा भी परिवर्तन हो रहा है, उनमें कुछ भी कर सकना तो संभव ही नहीं अपितु जानने का भी क्या प्रयोजन रह जाता है? इसप्रकार जानने के प्रति भी उत्साह नहीं रहना चाहिए। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होने पर एवं पर्यायों के प्रति भी उपेक्षाभाव होकर परलक्ष्यीज्ञान से भी उत्साहनिवृत्ति हो जाती है और स्वज्ञेय की ओर का आकर्षण बढ़ जाता है। फलस्वरूप रागादि की उत्पत्ति का क्रमश: अभाव होता जाता है। तारतम्यता पूर्वक आत्मिक शांति बढ़ती जाती है। इसके विपरीत अज्ञानी अपनत्व एवं कर्तृत्वबुद्धि के अभिप्रायपूर्वक पर्यायों एवं पर्यायों के विषयभूत पदार्थों में किसी को अनुकूल मानकर रागबुद्धि और किसी को प्रतिकूल मानकर द्वेषबुद्धि कर लेता है; किसी को रखना किसी को छोड़ने का प्रयास करता रहता है। लेकिन वे सब तो अपने अपने समय के सत् हैं, उनकी सत्ता में किसी का हस्तक्षेप संभव ही नहीं हो सकता। फलत: असफलता को प्राप्त होता हुआ दु:खी-दु:खी बना रहता है। अत: सत् में परिवर्तन संभव ही नहीं है, ऐसा मानकर उपेक्षाबुद्धि प्रगट करने से वीतरागता की उत्पत्ति होती है। स्वच्छन्दता के लिये कोई अवकाश नहीं रहता।

इसी विषय को अब गुण विशेष की अपेक्षा समझेंगे। जैसे चारित्रगुण की पर्याय का जिस समय क्रोध रूप उत्पाद हुआ वह उस समय का सत् है। उसकी उत्पत्ति का ज्ञान भी तत्समय ही हुआ। हर व्यक्ति क्रोध को दूर भी करना चाहता है। विचार करें कि जिस पर्याय को दूर करना

चाहता है, वह तो दूसरे समय स्वयं ही व्यय हो जावेगी, उसका तो जीवनकाल ही एक समय का था। वह किसको दूर करेगा? जिसका उत्पाद हुआ वह तो उस समय वैसी ही होने वाली थी मेरे प्रयास से बदल भी नहीं सकती फिर भी उसका ज्ञान तो बना रहता है। अत: उसके प्रति कर्तृत्वबुद्धि छोड़कर उपेक्षा बुद्धि जाग्रत करना ही कर्तव्य है। ऐसा मानने से अकर्तास्वभावी ज्ञायक तत्त्व की सन्मुखता रखने का अभिप्राय जाग्रत हो जाता है। फलस्वरूप भविष्य में होने वाली पर्यायें सहजरूप से वीतरागता सहित प्रगट होंगी। यही उपाय क्रोध के अभाव करने का है। कर्तृत्वबुद्धि से क्रोध का अभाव नहीं होगा।

उपरोक्त आत्मार्थी की स्व-पर प्रकाशक स्वभावी ज्ञानपर्याय, जब क्रोध के आकार हुई। उस समय उस ज्ञानपर्याय का इसी योग्यता के साथ उत्पादन हुआ था कि उसका ज्ञेय वह क्रोध की पर्याय ही बने। वह ज्ञान पर्याय अन्य को ज्ञेय बनावे, ऐसी सामर्थ्य पर्याय में थी ही नहीं। इसप्रकार आत्मा जानने की पर्याय में भी, ज्ञेय परिवर्तन कर सके यह प्रश्न ही नहीं रहता । जो ज्ञानपर्याय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता लेकर उत्पन्न हुई, उसका ज्ञेय वही बनेगा ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। कारण जगत् के सभी पदार्थों में प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) नाम का गुण है। अत: जगत के सभी पदार्थ ज्ञेय होने की योग्यता रखते हैं, आत्मा भी सभी ज्ञेयों को जान सके ऐसे स्वभाव वाला है। तब विचारने योग्य है कि अनंत पदार्थों में से किसी एक ही पदार्थ को ज्ञान क्यों जानता है? अन्य को क्यों नहीं जानता? यह कौन निर्धारण करेगा कि अमुक को जानना, अमुक को नहीं जानना? उत्तर स्पष्ट है कि यह तो स्व-पर प्रकाशक स्वभावी ज्ञान का पर्यायस्वभाव है कि जिस पर्याय का उत्पाद होता है, वह किस ज्ञेय को जानेगी इस योग्यता सहित ही उत्पन्न होती है।

उपरोक्त पर्यायस्वभाव को समझने से पर्याय एवं पर्याय के निमित्तभूत पदार्थों के प्रति कर्तृत्व, भोक्तृत्व बुद्धि का अभाव हो जाता है। श्रद्धा उत्पन्न होती है कि जब किसी में कुछ परिवर्तन करना शक्य

ही नहीं है तब मेरी कर्तृत्वबुद्धि निरर्थक ही है। ज्ञायक तत्त्व ही एकमात्र शरण योग्य है। – ऐसी श्रद्धा होने से पर एवं पर्यायों के प्रति उपेक्षाभाव जाग्रत होकर, वीतराग परिणति जाग्रत हो जाती है। स्वच्छन्दता को कोई अवकाश नहीं रहता।

पुरुषार्थहीनता के भय का निराकरण

शंका – इसप्रकार की श्रद्धा से तो पुरुषार्थहीनता का भय लगता है ?

समाधान – जिस अज्ञानी को पर्याय एवं पर्याय के विषयों के प्रति, रुचि एवं आकर्षण के साथ-साथ कर्त्ताबुद्धि बनी हुई है। ऐसे जीव को पर एवं पर्याय के प्रति उपेक्षाबुद्धि ही प्रगट नहीं होगी वरन् कर्तृत्वबुद्धि सहित आकर्षण बना रहेगा। ऐसा जीव अगर अपनी रुचि का पोषण करने के लिए इस कथन को आधार बनाकर प्रवर्तेगा तो वह जीव तो स्वच्छन्द था ही, लेकिन सच्चा आत्मार्थी तो इस कथन से पर एवं पर्याय के प्रति उदासीन होकर अकर्तास्वभावी स्वआत्मतत्त्व के प्रति विशेष विशेष आकर्षण बढ़ाकर वीतरागता को प्राप्त कर अनन्तकाल सुखी रहने का मार्ग प्रशस्त करेगा।

पुरुषार्थ की परिभाषा

पुरुषार्थ का अर्थ है, पुरुष-आत्मा उसका प्रयोजन-वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ वीर्यगुण की पर्याय है, उसका तो हर समय उत्पाद होता ही है। हर एक आत्मा हर समय पुरुषार्थ तो करता ही रहता है। लेकिन आत्मा का प्रयोजन तो वीतरागता अर्थात् निराकुल सुख प्राप्त करना है। जो वीर्य का उत्थान वीतरागता प्राप्त करावे, वहीं सच्चा पुरुषार्थ है। अतः पर्याय स्वभाव को एवं वस्तु व्यवस्था को समझकर, कर्तृत्व के भारी बोझ को हल्का करने में कारण बने वहीं सच्चा पुरुषार्थ है। बाकी जो कुछ पुरुषार्थ के नाम पर समझ रखा है वह सब कुपुरुषार्थ है संसारवृद्धि का कारण होने से आत्मा का अत्यन्त घातक पुरुषार्थ है। संक्षेप में, आत्मा

तो मात्र अकर्ता स्वभावी, निर्भार, परम वीतरागी ज्ञायक तत्त्व है, ऐसी श्रद्धा में प्रगट करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

अनुभूति में इन्द्रियज्ञान बाधक कैसे ?

इन्द्रियज्ञान एवं अतीन्द्रियज्ञान

ज्ञान की क्रिया में इन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय ऐसे दो भेद हैं ही नहीं। ज्ञान तो ज्ञान ही है। वह आत्मा की क्रिया है और आत्मा के द्वारा ही होती है।

इन्द्रियाँ तो अचेतन शरीर के अंग हैं। शरीर अचेतन, तो इन्द्रियाँ भी अचेतन ही हैं, उनमें चेतनता कहाँ से आवेगी। अतः इन्द्रियाँ तो ज्ञान की उत्पादक हो ही नहीं सकती।

इन्द्रियज्ञान का अर्थ है, कि आत्मा का ज्ञान जो इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करे। अतिन्द्रियज्ञान का अर्थ है कि जो ज्ञान इन्द्रियों का माध्यम नहीं लेकर सीधा अपने विषय का ज्ञान करले।

जब ज्ञान द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत आत्मतत्व को विषय बनाता है, उस समय इन्द्रियों का माध्यम नहीं रहता। ज्ञान पर्याय सीधा बिना कोई माध्यम के अपने विषय का ज्ञान कर लेता है। इस ही कारण ऐसे ज्ञान का नाम अतिन्द्रियज्ञान है। जब ज्ञान स्वज्ञेय को छोड़कर परमुखापेक्षी होता है अर्थात् परलक्ष्यी होता है, उस समय वह ज्ञान अपने विषय को इन्द्रिय व मन के माध्यम से ही जान पाता है, सीधा विषय नहीं बना सकता। अतः परलक्ष्यी ज्ञान कैसा भी-कितना भी हो, वह सब इन्द्रियज्ञान है।

इन्द्रियज्ञान शब्द से ऐसा नहीं समझना कि इन्द्रियाँ उस ज्ञान की उत्पादक हैं, इस कारण उस ज्ञान को इन्द्रियज्ञान के नाम से बोला जाता है। इन्द्रियाँ तो मात्र माध्यम अर्थात् मध्य में पड़ जाती है। जैसे हमारे निवास से बाहर निकलते समय दरवाजे मध्य में पड़ते हैं। हम जब भी निवास से बाहर निकलेंगे, वे दरवाजे जरूर बीच में आवेंगे। उन दरवाजों

के मध्य में आये बिना घर से बाहर निकला नहीं जा सकता। लेकिन वे दरवाजे न तो स्वामी को निकालने को प्रेरित करते हैं और न रहने के लिए। निकलने से दरवाजे का एक अंश भी स्वामी के साथ नहीं जाता। उसी प्रकार आत्मा का परलक्ष्यी ज्ञान अपनी तत्समय की योग्यतानुसार जिस किसी भी ज्ञेय को विषय बनाने को प्रवृत्त होगा, पाँच इन्द्रियाँ व मन इन छहों में से कोई न कोई दरवाजे के समान बीच में आये बिना नहीं रह सकती। परलक्ष्यी ज्ञान की योग्यता ही ऐसी है कि वह इनके माध्यम से ही अपने विषय को जान सकेगा। इसप्रकार के प्रवर्तन में अंश मात्र भी इन्द्रियादि ने ज्ञान को सहायता नहीं दी है। ये तो मात्र बीच में आ पड़े दरवाजे के समान हैं। लेकिन परलक्ष्यी ज्ञान की ऐसी पराधीनता अवश्य है। जैसे अन्धा देखने का कार्य, बहरा सुनने का कार्य नहीं कर सकता। हर स्थिति में जानने का कार्य तो आत्मा का ही है, इन्द्रियों का नहीं। जैसे मुर्दे के शरीर में इन्द्रियाँ तो सभी सुरक्षित दिखती हैं फिर भी जानने का कार्य बंद क्यों हो गया? यह सिद्ध करता है कि जानने का कार्य करने वाला आत्मा ही था वह निकल गया। अत: जानने की क्रिया का भी अभाव हो गया।

अत: सिद्ध है कि इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पादक नहीं हैं।—

अज्ञानी का ज्ञान राग एवं कर्त्ताबुद्धि का उत्पादक

प्रश्न — परलक्ष्यी ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से भी कार्य तो जानने का ही करता है?

उत्तर — अज्ञानी को पर में अपनापन होने से उसका परलक्ष्यीज्ञान, जिस किसी को भी विषय बनाता है, उसको इष्ट अनिष्ट की कल्पना पूर्वक जानता है। फलत: इष्ट के प्रति राग एवं अनिष्ट के प्रति द्वेष करे बिना रह ही नहीं सकता। इस ही कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान रागादि का उत्पादक है। राग संसार वृद्धि का कारण होने से उसकी हेय कहकर निंदा की गई है।

जो ज्ञान आत्मा का अहित करे उसको उपादेय कैसे माना जा सकता है एवं वह प्रशंसा का पात्र कैसे हो सकेगा?

अज्ञानी को, स्वभाव की अनभिज्ञता होने के कारण अकर्ता एवं ज्ञानआनन्दस्वभावी आत्मस्वरूप की श्रद्धा नहीं होकर, इन्द्रियज्ञान के विषयभूत पदार्थों में सुखबुद्धि होने से, उनमें स्वामित्व मानकर प्रवर्तता है। उनको मैं अपने अनुकूल कर सकता हूँ, भोग सकता हूँ, प्रतिकूल लगने वाले एवं मेरे भोग में अथवा अनुकूल होने में, बाधक हों, उनको हटा सकता हूँ, नाश कर सकता हूँ आदि-आदि मान्यता के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभिप्राय का तीव्र जोर होता है। उन पदार्थों में अहं एवं ममपना होने से व स्वामित्व का विश्वास होने से, उनको इच्छानुसार करने में लिये पूरी शक्ति के साथ जुट जाता है। लेकिन पदार्थ तो परद्रव्य हैं। अतः अभिप्राय अनुसार उनका परिणमन होना कैसे संभव हो सकता है ?

कदाचित् पुण्य के उदय से कोई कार्य अपनी इच्छानुसार परिणमन करता हुआ दिखने लगता है तो अपने प्रयासों को सफल मानकर और भी तीव्र जोर से कर्तृत्व के अभिप्राय को दृढ़ करते हुए उनको बढ़ाने करने आदि में तीव्र गति से जुट जाता है। भोगने की तीव्र लालसा होने से, भोक्तृत्व बुद्धि के जोर के कारण, उनको जल्दी-जल्दी तथा ज्यादा-ज्यादा भोगने के लिए आत्मा से अत्यन्त दूर रखता हुवा अपने उपयोग को बाहर ही बाहर रोके रखने का उग्र प्रयास करता रहता है। लेकिन उपयोग भी अनित्य स्वभावी है बदले बिना रहता नही; फलतः दुःखी बना रहता है।

कदाचित् पाप के उदय से प्रयासों की असफलता देखकर अथवा अभाव होता देखकर, कर्तृत्व भोक्तृत्व के उग्र अभिप्राय के कारण, असफलता का कारण अपने प्रयासों की कमी मानता हुआ और भी प्रबलता के साथ रखने और प्राप्त करने के प्रयासों में, जुट जाता है। प्राप्त विषयों का अभाव होते देख उस अभाव का कारण अपने पाप उदय को

न मानकर, अन्य निमित्तों को बाधक जानता हुआ उनके प्रति द्वेष उत्पन्न कर, उनका अभाव कर देना चाहता है। इस ही मान्यता के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाँच पापों का एवं सप्त व्यसनादि भावों का जन्म होता है।

अज्ञानी की इन्द्रियजन्य ज्ञान में उपादेय बुद्धि एवं उसके विषयभूत पदार्थों में सुख बुद्धि होती है फलतः उन से ज्यादा से ज्यादा, व जल्दी-जल्दी सुख प्राप्त करने के प्रयासों में तीव्र लालसा के साथ प्रवर्तित रहता है मरण के भय को भी भूल जाता है। अपने उपयोग को बाहर इतना जकड़े रखना चाहता है कि एक क्षण भी खाली नहीं हो जावे। कदाचित खाली दीखने लगे तो कहता है-"कोई मनोरंजन चाहिए, मैं तो थक गया हूँ आदि आदि ।"

जैसे स्पर्शन इन्द्रिय संबंधी कामी पुरुष कामवासना की कितनी भी पूर्ति करे, तृप्ति के अभाव में मद्यपान कर, परस्त्री, वेश्यागमन, बलात्कार आदि कुकर्म करके राज्यदंड, समाजदंड भोगते हुए भी उनमें उपयोग को लगाये रखने में ही सुख मानता है। इसीप्रकार सभी इन्द्रिय विषयों के बाबत समझ लेना। अतः इन्द्रियज्ञान तो आत्मकल्याण का घातक है ही और उसके विषयभूत पदार्थों में सुख बुद्धि होने पर तो वह आत्मार्थी का प्रबलतम शत्रु हो जाता है। ऐसे जीव का उपयोग तो कभी भी आत्मसन्मुख नहीं हो सकता।

जो परलक्ष्यीज्ञान मन के माध्यम से प्रवर्तता है, वह भी इन्द्रियज्ञान ही है। पाँचों इन्द्रियाँ तो देखने में आ जाती हैं अतः उनके अस्तित्व का तो विश्वास होता है, लेकिन मन चक्षुगोचर नहीं होने से उसका अस्तित्व ही नहीं दीखता। लेकिन सोचने विचार करने का कार्य कौन करेगी? अन्य इन्द्रिय का तो यह कार्य है नहीं। अतः सिद्ध है कि विकल्प, विचार, मन नाम की इन्द्रिय का कार्य है। अतः मन भी एक इन्द्रिय है एवं उसके माध्यम से प्रवर्तन करने वाला ज्ञान मन नामक इन्द्रियज्ञान है।

मनजन्य ज्ञान आत्मा का प्रबल घातक

प्रश्न — पाँच इन्द्रिय के विषयों में तो सुख का आभास लगता भी है, लेकिन मन के विषय में तो ऐसा कुछ लगता ही नहीं। अत: उससे आत्मा का अहित कैसे हो सकता है?

उत्तर — यथार्थत: मनजनित ज्ञान तो इन्द्रियज्ञान से भी आत्मा का अधिक अहित करने वाला है ऐसा हमारे २४ घण्टे का लेखा जोखा करें तो विश्वास में आ सकेगा। इन्द्रियज्ञान तो विषय सामने आने पर ही उसमें अटकता है, लेकिन मन तो निरंतर ही उपयोग को रोके रखता है। २४ घण्टे ही व्यस्त रखता है इसलिये मनजन्य ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान से भी बड़ा शत्रु है। दूसरी अपेक्षा देखें तो कर्मबंध में अर्थात आत्मा का भविष्य निर्माण करने में मुख्य भूमिका मनजन्य ज्ञान की ही है। मन में कुत्सित विचार आते ही पाप प्रकृतियों का बंध होता है और मंद कषाय के भाव आने पर पुण्य प्रकृतियों का बंध हो जाता है। जैसे किसी को जान से मारने के विचारों के समय, किसी इन्द्रिय द्वारा तो कुछ पाप कार्य नहीं हो रहा है फिर भी मनगत विचारों के कारण नरक आदि कुगति का बंध होता है। इसप्रकार मनगत विचार तो २४ घंटे चलते ही रहते हैं। इसप्रकार आत्मा को सबसे ज्यादा हानि पहुंचाने वाला मनगत ज्ञान है। कषाय की मन्दता एवं तीव्रता के द्योतक भी विचार ही हैं। अत: बंध के मुख्य कारण मनगत विचार ही हैं।

थोड़ा सा वैराग्य प्रेरक उपदेश सुनने पर इन्द्रिय विषयों के प्रति अरुचि अथवा विरागता उत्पन्न होकर इन्द्रिय विषयों से विरक्ति हो जाना सरल है। लेकिन मनगत विचारों के प्रति विरक्त होना असंभव तो नहीं लेकिन अत्यन्त कठिन अवश्य है। कारण हमको ऐसा लगता ही नहीं कि मनगत विचार आत्मा के घातक हो सकते हैं। फलत: आत्मार्थी इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर भी, मनगत विचारों के संबंध में अनभिज्ञ होने

से, अशुभभाव होने पर भी अपने को आत्मार्थी मानकर संतोष कर लेते है अथवा अशुभ विचारों को छोड़कर शुभ विचार कर लेने मात्र से अपने को धर्मात्मा, मोक्षमार्गी मान लेते हें। इसप्रकार वे भी मनोगत ज्ञान के प्रति उसी प्रकार चिपटे रहते है, जिसप्रकार इन्द्रिय ज्ञान के प्रति आत्मपना रखने वाले चिपटे रहते हैं। अत: वे भी उपयोग को बाहर ही बाहर रोके रखते है। उनको तो परलक्ष्य छूटकर आत्मलक्ष्य होना असंभव है।

इससे भी आगे आत्मार्थी, अन्य विकल्पों को छोड़ आत्मसंबंधी विकल्पों अथवा पर एवं पर्यायों से भेदज्ञान संबंधी विकल्प अथवा आत्मा के गुण एवं गुणी के भेद अथवा उसके एकत्व तोड़ने संबंधी विकल्पों को आत्मकल्याण के लिये उपयोगी मानकर, उनसे उग्रता के साथ चिपटे रहते हैं। अथवा घंटों ध्यान लगाकर चिन्तवन करते हुये उनको आत्मानुभूति के कारण मानकर उपयोग को उन ही में उलझाये रखते है। वे भी उपयोग को बहिर्लक्षी ही बनाये रखना चाहते है। उनको भी आत्मोपलब्धि असंभव है।

इसप्रकार मनजन्य ज्ञान के प्रति भी सूक्ष्म एकत्व बुद्धि बनी रहती है। अज्ञानी को ऐसा लगता ही नहीं है कि ये आत्म कल्याण की घातक है, इसमें हेयबुद्धि होना, इन्द्रियज्ञान से भी अधिक कठिन है।

सारांश यह है कि अज्ञानी को आत्मा के स्वभाव की जानकारी एवं विश्वास का तो अभाव है ही अत: परलक्ष्यी ज्ञान में उपादेय बुद्धि सहित, इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ज्ञात विषयों में सुखबुद्धि की मान्यता सहित प्रवर्तता है। कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धि का विश्वास होने से विषयों को जुटाने एवं भोगने के अभिप्राय से, २४ घण्टे तीव्र आकुलित हो होकर घानी के बैल की भाँति जुटा रहता है। अपना कर्तव्य मानकर, गति को और भी तीव्र करने के प्रयासों में रत रहता है। इसप्रकार अज्ञानी को इन्द्रियज्ञान एवं मनजन्य ज्ञान, राग एवं कर्ता बुद्धि के उत्पादन में कारण होता है।

ज्ञाताबुद्धि एवं कर्ताबुद्धि का अंतर

सामान्यतया दोनों का अंतर सब को ज्ञात है। जैसे किसी प्राणी की हत्या कर देने वाला उस हत्या का कर्ता है, उसके दण्ड का पात्र भी वही है। इसी समय दूर से ही उस हत्याकांड को देखने वाला व्यक्ति मात्र ज्ञाता होने से साक्षी है। वह दण्ड का पात्र नहीं होता एवं उसके कथन को प्रामाणिक मानकर उसे पुरस्कृत किया जाता है ।

फलत : करने वाला कर्ता है एवं जानने वाला मात्र ज्ञाता ही है । कर्ता है वह बंधता है, ज्ञाता बंधन को प्राप्त नहीं होता। संक्षेप में कर्ता एवं ज्ञाता का यहीं अंतर है ।

पण्डित बनारसीदास जी ने नाटक समयसार कर्ता कर्म अधिकार में कहा भी है —

करै करम सो ही करतारा, जो जानै सो जाननहारा।
जानै सो करता नहिं होई, करता सो जाने नहिं कोई ॥२३॥

ज्ञाता की परिभाषा तो सर्वत्र एक ही है कि जो तटस्थ रहकर मात्र जाने वह ज्ञाता है। जगत के सभी द्रव्यों के सभी परिणमनों को कैसे भी हों, उन सबके प्रति तटस्थ रहकर साक्षी रहता हुआ जानता रहे वह ज्ञाता है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। जो भी ज्ञात होते हैं वे सब ज्ञेय हैं। अत: मैं तो मात्र ज्ञाता ही हूँ, किसी परिणमन का कर्ता नहीं हूँ; ऐसी श्रद्धा जागृत होना ज्ञाताबुद्धि है ही और उसी को उपेक्षाबुद्धि कहते हैं। वह ही निर्भार वर्तता है। अज्ञानी को कर्ताबुद्धि ही रहती है इसीकारण आकुलित रहता हुआ अत्यन्त दु:खी बना रहता है ।

कर्त्तापने की परिभाषाऐं व विपरीतता

जिनवाणी में कर्तापने की दो परिभाषाऐं उपलब्ध हैं, अत: दोनों अपेक्षाओं को समझकर, जो परिभाषा जहाँ योग्य हो यथास्थान लगाकर, प्रयोजन की सिद्धि करनी चाहिये ।

"छहों द्रव्यों के कार्यों को मैं कर सकता हूँ" - अज्ञानी को ऐसा कर्तृत्व का अभिप्राय अनादि से चला आ रहा है। वह कभी सफल तो होता नहीं। बार-बार असफलता के कारण अत्यन्त दुखी बना रहता है। ऐसी कर्ताबुद्धि छुड़ाने के लिये कर्तापने की परिभाषा जिनवाणी में आती है कि "हरएक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों का कर्ता है, पर एवं पर की पर्याय का कर्ता नहीं है" क्योंकि कर्ता कर्म व्याप्य, व्यापक में ही होता है, पर्याय द्रव्य में व्याप्त होती है और द्रव्य उसका व्यापक होता है। इसप्रकार हर एक द्रव्य का अपनी पर्याय के साथ ही कर्ता कर्म संबंध होता हैं, पर के साथ किंचितमात्र भी नहीं। इसप्रकार पर में कर्तृत्व की मान्यता छुड़ाकर अपनी पर्याय के कर्तापने की स्थापना की। आचार्य महाराज का उद्देश्य तो जिस तिस प्रकार से वीतरागता प्राप्त कराने का है।

प्रश्न — इससे तो आप पर्याय के कर्तृत्व की स्थापना कर रहे हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर — कर्तापने की मान्यता तो छोड़ने योग्य ही है लेकिन जो अज्ञानी अभी तक सारे जगत के कर्तृत्व का झूठा भार लेकर दुःखी था, उसकी वह मान्यता छुड़ाने के अभिप्राय से, अपने ही द्रव्य में मर्यादित करने के लिए, उपरोक्त कथन है। इस श्रद्धा के द्वारा सारे जगत् से उपेक्षित होकर मात्र अपने ही द्रव्य में सीमित हो जाता है।

पर का कर्तृत्व छोड़कर अपनी पर्याय का कर्तृत्व स्वीकारने वाला जीव जब अपने प्रयोजन की मुख्यता से विचार करता है तो उसे शांति तो प्राप्त नहीं होती? तब आचार्य महाराज अपनी पर्याय का कर्तृत्व भी छुड़ाने के लिये आत्मा के यथार्थ स्वभाव की पहिचान कराकर, दूसरी अपेक्षा समझाकर अपनी पर्याय का भी कर्तृत्व छुड़ाते हैं।

दूसरी अपेक्षा है - "अभिप्रायपूर्वक करै सो कर्ता"। जैसे एक डॉक्टर ने मरीज की बीमारी मिटाने के अभिप्राय से उसका ऑपरेशन किया। ऑपरेशन करते समय ही मरीज की मृत्यु हो गई। इस स्थिति में क्या

डॉक्टर को उस मरीज की मृत्यु का कर्ता कहा जावेगा? नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार ज्ञानी का, ज्ञायकस्वभावी ध्रुव में अहंपना आ जाने से, पर्याय के परिणामों के करने धरने के अभिप्राय का अभाव हो जाता है, क्रिया के सद्भाव में भी वह अकर्ता ही है। जैसे तीर्थंकर विहार की क्रिया होने पर भी वे उसके कर्ता नहीं है। आत्मा का भी अपनी पर्यायों में कुछ करने का अभिप्राय भी कर्तापना ही है। जैसे कोई किसी की हत्या करने का अभिप्राय रखता हो, लेकिन वह बच गया हो तो क्या हत्या का दोषी नहीं कहलावेगा? इसीप्रकार करने धरने संबंधी अभिप्राय रखने वाला भी यथार्थतः कर्ता ही है।

प्रश्न — पर्याय तो अपनी ही है फिर इसका कर्ता मानने में कौन सी गलती है?

उत्तर — पर्याय अपने समय का सत् है, वह तो अपनी योग्यतानुसार अपने उत्पाद काल में होगी ही होगीं। जो पर्याय बिना किसी की अपेक्षा के अपने-आप ही अपने समय पर उत्पन्न हो रही है, उसमें यह कर्ता बनने वाला आत्मा क्या कर सकेगा? और जो पर्याय अभी उत्पन्न ही नहीं हुई अथवा होकर विनष्ट हो गई उनमें भी यह क्या कर सकेगा? इसीप्रकार जो उत्पन्न हो ही चुकी उसमें करने को रह ही क्या गया, सारांश यह है कि अपनी पर्याय में भी आत्मा कुछ कर नहीं सकता। इस स्थिति में अपने को कर्ता मानना, मिथ्या ही होगा। पर्याय में भी फेरफार करने के अभिप्राय से ज्ञान पर्याय तो परलक्ष्यी ही बनी रहेगी तथा परिवर्तन नहीं होने से आत्मा दुःखी बना रहेगा।

प्रश्न — जिस पर्याय का कर्तृत्व स्वीकार कराया, उसी के कर्तापने का निषेध करा रहे हैं, दोनों कथन विपरीत लगते हैं?

उत्तर — ऐसा नहीं है, आचार्यश्री का उद्देश्य तो वीतरागता प्राप्त कराना है। पर्याय के कर्तापना मानने पर भी पर्याय में कुछ कर तो सकते ही नहीं अपितु दृष्टि बहिर्लक्षी ही बनी रहती है। फलतः निरन्तर राग का

उत्पादन कर संसार बृद्धि करता रहेगा। इससे बचाने के लिए आचार्य महाराज का करुणा भरा उपदेश है कि "आत्मा अकर्ता स्वभावी है उसका ज्ञान-श्रद्धान करने से स्वसन्मुख वृत्ति उत्पन्न होकर निराकुलता प्राप्त होती है" ऐसी श्रद्धा कराने के लिये ही उपर्युक्त कथन है।

प्रश्न — दो प्रकार की परिभाषाएँ क्यों की गईं?

उत्तर — पहली परिभाषा तो आगम की मुख्यता से छह द्रव्यों से कर्तृत्व छुड़ाने की अपेक्षा से की गई है। दूसरी परिभाषा अध्यात्म की प्रमुखता से अपने स्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान कराकर सारे जगत् से एवं अपनी पर्याय से भी कर्तृत्व छुड़ाकर एकमात्र अकर्तास्वभावी त्रिकाली ज्ञायकभाव में निजत्व कराकर उसही में तन्मय हो जाने की अपेक्षा से की गयी है। लेकिन दोनों ही परिभाषाओं का उद्देश्य तो एक मात्र वीतरागता प्राप्त कराने का है।

प्रश्न — आत्मा अकर्तास्वभावी ही है — ऐसा कैसे प्रतीति में आवे?

उत्तर — बहुत स्पष्ट है। भगवान अरहंत की आत्मा का स्वभाव वर्तमान में प्रत्यक्ष प्रगट है। मेरे आत्मा का स्वभाव भी अरहंत के जितना और जैसे के तैसा ही तो है। "भगवान अरहंत की आत्मा सकल ज्ञेयों के ज्ञायक तो हैं लेकिन एक अंशमात्र के भी कर्ता नहीं है।" अगर अरहंत भगवान् पर में कुछ भी कर सकते होते तो वे उनके ही आत्मा से बंधी अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ जो शेष रह गई थीं और जिनके सद्भाव में सिद्ध दशा प्राप्त करने में विलम्ब हो रहा था उनका अभाव कर देते? अरहंत भगवान तो अनंत बल के धनी थे, वे समय के पूर्व ही उन प्रकृतियों का अभाव कर सिद्ध दशा प्राप्त कर लेते ? लेकिन वे प्रकृतियां अपनी योग्यतानुसार व्यय के काल में ही नाश होती हैं। इससे स्पष्ट है कि अरहंत की आत्मा भी अकर्ता होने से परम सुखी हैं। अत: मेरे आत्मा का स्वभाव भी अकर्ता ही है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह ही है कि ज्ञातापने की बुद्धि तो वीतरागता की उत्पादक है एवं कर्तापने की बुद्धि मोह राग-द्वेष की उत्पादक होने से संसारवृद्धि का कारण है। यह ही दोनों मान्यताओं का अन्तर है।

निश्चयनय एवं व्यवहारनय

आगम अध्यात्म का अन्तर

आगम के द्वारा वस्तुस्वरूप समझने पर भी आत्मा में मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए, निश्चयनय एवं व्यवहारनय का स्वरूप समझना आवश्यक है। वस्तुओं के जैसे स्वभाव हैं वह बतलाना आगम का उद्देश्य है, लेकिन आत्मोपलब्धि का मार्ग अध्यात्म के द्वारा ही प्राप्त होता है। संक्षेप में कहा जावे तो आगम तो वस्तुस्वरूप समझने के लिए बुद्धि को फैलाता है और अध्यात्म उन सबमें से बुद्धि को समेटकर आत्मसन्मुख करता है । वृहद द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ में अध्यात्म शब्द का अर्थ किया है —

"अध्यात्म शब्द का अर्थ कहते हैं — मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।"

इसप्रकार हमारा प्रयोजन तो अध्यात्म से ही सिद्ध होता है। अतः नय प्रकरण को अध्यात्म की मुख्यता से समझना चाहिये ।

आगम की शैली के तथा अध्यात्म की शैली के नय, उनके अभिप्राय एवं आपस में दोनों शैलियों के नयों का सामंजस्य तथा आत्मोपलब्धि में उन नयों का प्रयोग कैसे करना चाहिए, आदि विषयों पर डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल ने परमभावप्रकाशक नयचक्र नामक पुस्तक के ३९१ पृष्ठों में बहुत विस्तार से चर्चा की है। आत्मार्थी को नय प्रकरण समझने के लिये उसका अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकरण में भी उक्त पुस्तक की सहायता ली गई है।

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चयव्यवहार के हेतु हैं

आलाप पद्धति में मूल नयों की चर्चा में कहा है कि —

"सर्व नयों के मूल निश्चय और व्यवहार - ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनय। ये दोनों निश्चय - व्यवहार के हेतु हैं।"

उक्त छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया गया है —

"नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो द्रव्यार्थिक है और व्यवहारनय पर्यायार्थिक है" - ऐसा समझना चाहिए ।

उपरोक्त प्रकार से द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों का विवेचन भी निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं, पूरक हैं यह सिद्ध होता है। अर्थात् वे भी निश्चय-व्यवहार को पुष्ट करने के लिये ही हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है। अर्थात अभेद अनुपचरित अखण्ड द्रव्य ही द्रव्यार्थिकनय का विषय है और वही निश्चयनय का विषय है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी बाकी रह जाते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं, पर्यायार्थिक नय के विषय हैं।

निश्चय व्यवहार का स्वरूप

आलाप पद्धति में निश्चय-व्यवहार का लक्षण निम्नप्रकार किया है—

अभेदानुपचरितया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः।
भेदोपचरितयावस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः॥

अर्थ — अभेद और अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चय है और भेद तथा उपचार रूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार है ।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार गाथा २७२ की टीका में निश्चय-व्यवहार की निम्न परिभाषा दी है :—

"आत्माश्रितो निश्चयनय पर्यायाश्रितों व्यवहारनयः ।"

अर्थ — "आत्माश्रित कथन को निश्चयनय और पराश्रित कथन को व्यवहार नय कहते हैं ।"

जिनवाणी के अनेक कथनों में से आत्माश्रित कथन को निश्चय का कथन तथा पराश्रित कथन को व्यवहार का कथन जानकर उसकी विषयवस्तु को हेय-उपादेय के रूप में श्रद्धान कराने का उपर्युक्त परिभाषा का प्रयोजन है। आलाप पद्धतिकार ने निश्चयनय की विषयवस्तु तथा व्यवहारनय की विषयवस्तु का ज्ञान तो कराया ही है, साथ ही हेय-उपादेय मानने का संकेत भी है।

द्रव्यार्थिकनय की विषयवस्तु त्रिकाल एक रूप रहने वाली अभेद तथा अनुपचार स्वभाव वाली है, उसका निश्चय करना अर्थात् उसको अपनेपने के रूप में - उपादेय के रूप में स्वीकार करना निश्चय है। यह उसका भावार्थ है।

वस्तु तो स्वयं अभेद अनुपचरित स्वभाववाली ही है फिर भी उसको भेद करके अथवा अन्य का उपचार करके उस वस्तु को ही भेदवाली व उपचार रूप कहकर व्यवहार कराना अर्थात् समझाना यह व्यवहारनय है। व्यवहारनय के कथन जैसी ही वस्तु मान लेवे तो विपरीतता हो जावेगी।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८ से २५७ तक निश्चय व्यवहार के संबंध में बहुत प्रयोजनभूत स्पष्टीकरण किया है, आत्मार्थी को उस विषय का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

उक्त पृष्ठों में निश्चय-व्यवहार की निम्न परिभाषाऐं दी हैं —

(१) "सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं ।

(२) " एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप कहना व्यवहारनय है। जैसे -मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चयनय का

कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहारनय का कथन है।"

(३) "जिस द्रव्य की जो परिणति हो उसे उस ही का कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहारनय है।"

(४) "व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी से मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चयनय उन ही को यथावत् निरूपण करता है किसी को किसी में नहीं मिलाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के द्वारा दो द्रव्यों की भिन्नता समझने के लिए दोनों नयों के संबंध में और भी ज्यादा स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। निश्चयनय की परिभाषा तो सब जगह एक सी ही है, मात्र शब्दों का अंतर होकर भी वाच्य अर्थात् विषय तो मात्र अभेद अखण्ड स्व आत्मा ही है, अंतर तो मात्र व्यवहारनय की व्याख्या में ही है। जैसे —

१. अभेद वस्तु को भेद करके भेद रूप अथवा उपचार करके उपचार रूप कहता है।

२. व्यवहारनय स्वआश्रय नहीं रहेकर पराश्रयरूप वस्तु को बताता है।

३. स्वद्रव्य के भाव को स्व कहना निश्चय और अन्य द्रव्य के भावों को स्वद्रव्य के भाव रूप कहना, व्यवहार।

४. स्वद्रव्य की परिणति को स्व की कहना निश्चय और परद्रव्य की परिणति को स्वद्रव्य की कहना व्यवहारनय।

५. व्यवहारनय = स्वद्रव्य - परद्रव्य को, उनके भावों को, कारण कार्यादि को, एक-दूसरे में मिलाकर किसी के कार्य को, किसी अन्य के बताता है, वह व्यवहारनय।

इसप्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं को और भी संक्षेप करें तो संक्षेप में निम्न आशय प्रगट होता है कि द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत ध्रुवांश,

सामान्यांश, अकर्तृत्वस्वभावी, अभेद, अखण्ड, परम निरपेक्ष, अनुपचारी, परमशुद्ध ज्ञानानंदस्वभावी स्व आत्मतत्त्व वही एकमात्र निश्चयनय का विषय है, उसका जानना ही निश्चयनय है और अहंपना स्थापन करने योग्य श्रद्धा का श्रद्धेय भी वही है, अतः यही सत्यार्थ है। इस ही में स्वपने का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

उपरोक्त द्रव्यार्थिकनय के विषय के अतिरिक्त अपना पर्यायांश अथवा गुण भेदों के साथ-साथ जो कुछ भी बच जाता है वह सब पर्यायार्थिकनय का विषय है। उनको पर जानते व मानते हुए उस रूप अपने आप को नहीं मानना, उनमें अहंपना स्थापन नहीं करना, ऐसा ज्ञान कराना ही, उस कथन का उद्देश्य है।

अपने ही अभेद द्रव्य में भेद कल्पना करके उत्पन्न अभेद द्रव्य को समझना और ज्ञान द्वारा भी उस रूप से द्रव्य को देखना, अभेद में भेद करने वाला व्यवहारनय है। इसका उद्देश्य भी अभेद द्रव्य का ज्ञान कराना ही है।

दूसरा लक्षण है अन्य द्रव्य का आत्मद्रव्य में उपचार करके अनुपचरित वस्तु को समझाने वाला व्यवहारनय है, इसका विस्तार बहुत है। संक्षेप में इसप्रकार :—

उपचार का स्वरूप

उपचार का लक्षण आलाप पद्धति में कहा है कि —

मुख्याभावेसति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते

अर्थ — मुख्य के अभाव होने पर, प्रयोजन के लिए अथवा निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार का प्रवर्तन होता है। उपरोक्त लक्षण के अनुसार, जिसमें उपचार किया जावे वहाँ मुख्य का तो अभाव हो, और कोई प्रयोजन सिद्ध करना हो अथवा निमित्त का ज्ञान कराना हो, तो वहाँ ही उपचार का प्रवर्तन होता है। जैसे पिताजी की फोटो को पिताजी कह दिया जाता है। फोटो में पिताजी का अभाव है लेकिन पिताजी का परिचय

कराने के प्रयोजनवश फोटो में पिताजी का उपचार किया गया। इसीप्रकार गुरु के उपदेश से मुझे ज्ञान हुआ, अरहंत के जैसा मेरा आत्मा, अग्नि से पानी गरम हुआ आदि निमित्त का ज्ञान कराने के लिए भी स्वभाव अर्थात् उपादान का उपचार निमित्त में किया जाता है। इन कथनों द्वारा कथित वस्तु में, मुख्य (उपादान) तो है नहीं लेकिन उपादान का ज्ञान कराने के लिये भी स्वभाव अर्थात् उपादान का उपचार निमित्त में किया जाता है तथा उसे कारण भी कह दिया जाता है। इसीप्रकार आत्मा को क्रोधी, मानी, मायावी, ज्ञानी, अज्ञानी आदि कहना भी उपचार है, क्योंकि आत्मा तो क्रोधी आदि होता नहीं, मात्र एक समय की पर्याय के कार्य को आत्मा का कहना यह भी उपचार अर्थात् व्यवहार कथन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

निश्चय का विषय ही आश्रय करने योग्य

इसप्रकार यह तो स्पष्ट है कि निश्चय का विषय तो अपरिवर्तनीय, अभेद एवं बिना कोई मिलावट वाला शुद्ध है और वही मैं हूँ। उस ही में मैंपनां स्थापन करने से ही मेरा प्रयोजन सिद्ध होगा शान्ति प्राप्त होगी। अतः आत्महित के लिये यही एकमात्र भूतार्थ, सत्यार्थ एवं आश्रय करने योग्य है। व्यवहारनय का विषय तो सब ही अभूतार्थ है, असत्यार्थ है तथा परिवर्तनीय होने से आश्रय करने योग्य नहीं है। क्योंकि वस्तु ही स्वयं ऐसी नहीं है जैसी व्यवहारनय बताता है। **इसी आशय को मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९ पर समयसार ग्रन्थ का प्रमाण देते हुए बताया है कि —**

"व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता, किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा निरूपण करता है।"

समयसार गाथा ११ में कहा है कि — "जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से (वास्तव में) सम्यग्दृष्टि है।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हमारे लिए प्रयोजनभूत तो एकमात्र निश्चय के विषयभूत निज आत्मतत्त्व का आश्रय लेना ही है। व्यवहारनय का विषय तो शान्ति प्राप्त करने के लिए अप्रयोजनभूत होने से हेय है। आश्रय छोड़ने योग्य है।

व्यवहार के कथन की उपयोगिता

यहाँ कोई प्रश्न करे कि — व्यवहार का आश्रय करने से जब आत्मा का अहित होता है तो ऐसे व्यवहार का कथन ही जिनवाणी में क्यों किया ? निश्चय का ही उपदेश देना चाहिए था।

ऐसा ही तर्क मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५१ पर किया है। वहाँ पर समयसार गाथा ८ के आधार से उत्तर दिया है —

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥ ८॥

अर्थ — जिसप्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश है।

"तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा भी कहा है कि "व्यवहारनयो-नानुसर्त्तव्य" इसका अर्थ है — निश्चय को अंगीकार करने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं — परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।"

इसी विषय को इसी ग्रन्थ के पृ. २५२ पर विशेष स्पष्ट किया है।

"प्रश्न — व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता ? और व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना ?

उत्तर — निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है, उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसीप्रकार कहते रहे तब तो वे समझ नहीं पावें। इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष

किये - तब मनुष्य जीव है, नारकादि जीव हैं, इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई।"

"अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण पर्याय रूप जीव के विशेष किये, तब जानने वाला जीव है, देखनेवाला जीव है - इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतराग भाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पावें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्व श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक, परद्रव्यों के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादि रूप वीतराग भाव के विशेष बतलाये, तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।"

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का नहीं होना जानना।

व्यवहारनय प्रयोजनभूत कैसे ?

उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा समझ में आ जाना चाहिए कि व्यवहारनय के द्वारा भी निश्चयनय के विषयभूत वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। यथार्थतः व्यवहार का कार्य ही निश्चय का ज्ञान कराना है, इसी में उसकी सार्थकता है। व्यवहारनय निश्चय का प्रतिपादक है, उसका प्रतिपाद्य तो निश्चयनय की विषयभूत वस्तु ही है। इसप्रकार व्यवहारनय वस्तु का ज्ञान कराने के लिये निश्चय का साधक भी कहा जाता है, परम्परा कारण भी कह दिया जाता है।

इस पर प्रश्न होता है कि व्यवहारनय, पर को समझाने में कैसे उपयोगी है? ऐसे प्रश्न का समाधान मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५३ पर पुरुषार्थसिद्धयुपाय की गाथा ६-७ का उद्धरण करते हुए निम्न प्रकार दिया है —

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अर्थ — मुनिराज अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय उसका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहार ही को जानता है, उसे उपदेश ही देना योग्य नहीं है। तथा जैसे कोई सच्चे सिंह को न जाने उसे बिलाव ही सिंह है उसीप्रकार जो निश्चय को नहीं जाने उसके व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।"

उक्त ग्रंथ में स्पष्ट संकेत है कि व्यवहारनय वस्तु को जैसी कहता है वैसी ही वस्तु को मान लेने वाला तो उपदेश का पात्र भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि वस्तु तो निश्चय के द्वारा है वैसी ही है, व्यवहारनय तो उस ही वस्तु का अनेक उपायों से ज्ञान कराता है अर्थात् समझाता है।

पण्डित टोडरमल जी साहब ने स्वयं इसी पृष्ठ पर प्रश्न उठाकर कहा है कि — "व्यवहारनय परको समझाने के लिए ही है या अपने को भी कुछ लाभ का कारण है।"

"समाधान — आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को नहीं पहिचानें तब तक व्यवहार मार्ग से वस्तु का निश्चय करें।

इसलिए निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है।

परन्तु व्यवहार को उपचार मात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो, परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर वस्तु इसप्रकार ही है — ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जावे।"

इसप्रकार व्यवहारनय वस्तुस्वरूप समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी है, लेकिन श्रद्धान अर्थात् स्व मानने के लिए तो एकमात्र निश्चयनय का विषय ही है वही, अत्यन्त उपादेय है एवं समस्त द्वादशांग का सार है।

मोक्षमार्ग दो मानने का निषेध

निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप नहीं समझने वाले अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग ही दो मानते हैं, जैसे निश्चय मोक्षमार्ग से तो मुक्ति होती ही है लेकिन व्यवहार भी मोक्षमार्ग है, उससे भी परम्परा से मुक्ति होती है, ऐसी मान्यतावाले जीवों के लिये पण्डित टोडरमलजी साहब ने पृष्ठ २४८-२४९ में निम्नप्रकार स्पष्टीकरण किया है —

"अंतरंग में आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं, जिन आज्ञा मान कर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। सो मोक्षमार्ग दो नहीं है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है, जहां सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो "निश्चय मोक्षमार्ग" है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है, व सहचारी है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो "व्यवहार मोक्षमार्ग" है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार इसलिये निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। (किन्तु) एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है- इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।"

आगे पृष्ठ २५० में भी निम्नप्रकार कहा है —

"तथा व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग है नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिये इन्हें व्यवहार कहा है, इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्ग पने से इनको निश्चय व्यवहार कहा है, सो ऐसा ही मानना। परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग है, इन दोनों को उपादेय मानना वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।"

परिणति (परिणमन) नय नहीं है

उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ २५० पर कहा है कि —

"वहाँ वह कहता है कि श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं - इस प्रकार हम दोनों को अंगीकार करते हैं।"

"सो ऐसा भी नहीं बनता : क्योंकि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व होता है। तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है, वहाँ जिस द्रव्य की परिणति हो उसको उसी की प्ररूपित करे सो निश्चयनय, और उस ही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे सो व्यवहारनय, ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं, कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं। इसलिये इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।"

इसप्रकार पण्डितजी साहब ने निश्चय-व्यवहारनय एवं निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों को भिन्न-भिन्न समझाकर स्पष्टतापूर्वक मिथ्या मान्यताओं का निराकरण कर दिया।

सबके निष्कर्ष रूप में पृष्ठ २५० से २५१ पर लिखते हैं कि —

"निश्चयनय से जो निरूपण किया हो तो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।"

"जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो सत्यार्थ ऐसे ही है" ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है" ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "ऐसे भी है, ऐसे भी है"- इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।"

इसप्रकार पण्डितजी साहब ने अनेक आगम एवं तर्कादि के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि निश्चय-व्यवहार दोनों नय तो ज्ञान की पर्यायें हैं।

इन दोनों नयों के विषय तो द्रव्य और द्रव्य का परिणमन है वे ज्ञानपर्याय से भिन्न होने नय नहीं है। यथार्थतः तो ज्ञानी जीव को निश्चय एवं व्यवहार नय तथा उसके विषय निश्चय एवं व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों साथ-साथ ही होते है व रहते हैं, आगे-पीछे नहीं। इसीकारण भ्रम से अज्ञानी दोनों को एक ही मान लेता है। लेकिन ज्ञानी दोनों में निश्चय को उपादेय, व्यवहार को हेय मानता हुआ प्रवर्तता रहता है। आ. ब्रह्मदेव सूरि ने बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ की टीका में लिखा है —

दुविहंपि मोक्खहेउ। झाणे पाउणदि मुणि णियमा

"मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष के कारणों को प्राप्त करता है"

द्रव्य के स्वरूप का आश्रय लेने से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह निश्चय है और पर्याय का जो परिणमन, प्रयोजन सिद्धि में बाधक नहीं हो तथा सहचारी हो उस परिणति को व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार व्रत, शील, संयमादि के भाव स्वयं मोक्षमार्ग तो हैं नहीं लेकिन मोक्षमार्गी जीव को यथायोग्य निश्चित रूप से होते ही हैं, इस कारण सहचारी देखकर उनको उपचार से मोक्षमार्ग कह दिया जाता है। लेकिन व्यवहार मोक्षमार्ग को ही सच्चा मोक्षमार्ग मान लेगा तो संसार परिभ्रमण ही बना रहेगा।

निश्चयनय व्यवहारनय का निषेधक कैसे है ?

पंचाध्यायी अध्याय-१ के श्लोक ५९८ में तो, निश्चय को व्यवहार का निषेधक एवं व्यवहार निश्चय के द्वारा निषेध्य कहा गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चय के आश्रय करने वाले को व्यवहार सहज ही निषेध्य हो जाता है। कारण जैसे-जैसे निश्चय में आरूढ़ता बढ़ती जाती है पर्याय की अशुद्धता जिसको व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा था, उसका क्रमशः नाश होता जाता है। इस प्रकार निश्चय तो व्यवहार का निषेधक ही है, व्यवहार निषेध्य है।

श्लोक ५९८ निम्नप्रकार है —

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेध्कश्च परमार्थः।
व्यवहारः प्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात्॥

अर्थ — "व्यवहारनय प्रतिषेध्य (निषेध करने योग्य) है और निश्चयनय उसका प्रतिषेधक अर्थात् निषेध करने वाला है। अतः व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है।"

इसप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन भी नहीं होता इसलिए उसको निश्चय का प्रतिपादक भी कहा जाता है और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति भी नहीं होती। इसप्रकार यथार्थ वस्तु समझने के लिऐ व्यवहार आवश्यक भी है लेकिन साधना के लिए उसका आश्रय छोड़ना योग्य भी है। इस प्रकार व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक भी है और निश्चय के द्वारा प्रतिषेध्य भी है। यथास्थान दोनों ही प्रयोजनभूत हैं

तत्वान्वेषण काल तक ही दोनों नय प्रयोजनभूत हैं ऐसा द्रव्यस्वभाव प्रकाशकनयचक्र की गाथा २६८ में कहा है —

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा॥

अर्थ — तत्वान्वेषण काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।"

निश्चय व्यवहार प्रकरण का उपसंहार

आगम के अर्थात् वस्तुस्वरूप को बतलाने वाले द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय हैं। द्रव्यार्थिकनय का विषय एकमात्र त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है। पर्यायार्थिकनय के विषय एक समय वाली पर्याय एवं उससे संबंधित निमित्तादि समस्त पदार्थ हैं। वे सब ज्ञेय मात्र हैं।

उपर्युक्त विषयों में से जिससे "वीतरागता" प्राप्त हो वह ही मुख्य होने से निश्चय है, वही भूतार्थ है एवं उपादेय भी वही है। उसको जानने वाली ज्ञान की पर्याय वह निश्चयनय है। बाकी जो अपना प्रयोजन साधने में कार्यकारी न हो, फिर भी निश्चय को समझाने वाला हो वह व्यवहार है और उसको जानने वाले नय का नाम व्यवहारनय है। लेकिन साधना के लिये सब ही प्रकार का व्यवहारनय बाधक होने से अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, एवं आश्रय करने योग्य नहीं है। इस अपेक्षा आगम के नयों को अध्यात्म का हेतु, पूरक सहायक आदि कहा गया है।

प्रश्न — व्यवहारनय को जिनवाणी में प्रयोजनभूत भी तो कहा गया है?

उत्तर — आश्रय करने की अपेक्षा तो व्यवहारनय का जो भी विषय हो किसी प्रकार से भी प्रयोजनभूत नहीं है। निश्चयनय की विषयभूत वस्तु तो एकमात्र अभेद-अखंड ज्ञायकमात्र है। उस अभेद वस्तु को भेद करके समझाने के लिये तथा अनेक संयोगों व निमित्तों के साथ एकमेक जैसी ज्ञान में आती आत्मा को, भेदज्ञान द्वारा भिन्न करके निश्चयनय की विषयभूत वस्तु को समझाने के लिये, व्यवहारनय को प्रयोजनभूत भी बताया गया है। सारांश यह है कि आत्मार्थी को जैसे भी प्रतीति में आ सके उन सब उपायों से, निश्चयनय की विषयभूत वस्तु को समझाना ही व्यवहारनय का कार्य है। इस ही अपेक्षा से व्यवहार को निश्चय का प्रतिपादक एवं निश्चय को प्रतिपाद्य कहा गया है। लेकिन व्यवहारनय जैसी वस्तु को बताता है, वैसी ही मान लेवें तो वह उल्टा अकार्यकारी हो जावेगा। इसप्रकार निश्चयस्वरूप वस्तु को समझाने तक ही व्यवहार की सार्थकता है।

लेकिन आत्मस्वरूप समझने के बाद, आत्मोपलब्धि के लिये तो निश्चयनय का विषय ही मात्र आश्रयभूत होने से उपादेय है, बाकी

व्यवहारनय और उसका विषय छोड़ने (उपेक्षा करने) योग्य है। इस अपेक्षा व्यवहारनय को हेय कहा है और इस ही आशय से निश्चय को व्यवहार का निषेधक एवं व्यवहार को निषेध्य कहा है। आत्मानुभव के काल में मात्र निश्चय का ही अनुभव है, व्यवहार का तो अभाव ही वर्तता है। अतः व्यवहार तो हेय ही है।

प्रश्न — अगर व्यवहारनय हेय ही है तो जिनवाणी में निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग इसप्रकार दोनों को मोक्षमार्ग कैसे कहा है ?

उत्तर — इस संबंध में पण्डित टोडरमल जी साहब ने पृ. २४९ में महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण दिया है- " सो मोक्षमार्ग दो नहीं है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जावे सो "निश्चय मोक्षमार्ग" है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है, व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो "व्यवहार मोक्षमार्ग" है। क्योंकि निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।" इसलिये निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो मोक्षमार्ग जानना मिथ्या है।"

"व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं। इसलिये इन्हें व्यवहार कहा है। सो ऐसे ही मानना, परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।"

इसप्रकार भगवान् अरहंत के जैसा मेरा आत्मस्वरूप है वह ही निश्चय है, निश्चयनय का विषय है। व्यवहारनय के द्वारा उसके स्वरूप को समझकर, व्यवहार को हेय मान उसका आश्रय छोड़ना और अरहंत जैसे अपने आत्मस्वरूप को सत्यार्थ मानकर, उसी में अहंपना स्थापन कर, एकत्व कर आत्मानुभव प्राप्त कर लेना, यही इस कथन का तात्पर्य है।

आत्मा अरहन्त सदृश कैसे ?

मेरी आत्मा अरहंत के समान है

प्रश्न — आप कहते हैं कि मेरी आत्मा अरहंत के समान है, लेकिन हम को तो ऐसा दीखता ही नहीं है, रागी-द्वेषी ही दीखता है ?

उत्तर— ऐसा दिखना तो दृष्टि का दोष है। यथार्थतः आत्मा तो ऐसा नहीं है। आचार्य महाराज ने उपर्युक्त गाथा ८०की टीका में यह भी संकेत किया है कि —

"जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, पर्यायरूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है, क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है।"

वास्तव में चेतना ही आत्मा का लक्षण है, चेतना अर्थात् जानना-देखना। इसप्रकार जहाँ कहीं भी आत्मा को पहिचानना हो-ढूढना हो तो ज्ञान के माध्यम से ही खोजना चाहिए। लेकिन अज्ञानी वास्तविक लक्षण को छोड़कर अपनी विकारी पर्याय को लक्षण बनाकर आत्मा को खोजता है, यही कारण है कि उसको आत्मा नहीं दिखता।

वास्तव में अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को समझने के प्रयास के समय अज्ञानी को अपनी मान्यता को एक तरफ करके, निष्पक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। अनादि अनन्त आत्मा से अभिन्न होकर रहने वाले ऐसे चेतन लक्षण से समझे तब ही भगवान अरहन्त के जैसा आत्मा का स्वरूप समझ में आ सकेगा।

आचार्यश्री ने गाथा में भी यही कहा है कि "जो भ्रग्रवान अरहन्त को द्रव्य रूप से, गुण रूप से, पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है। क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है।" इसलिए हमको अरहन्त की आत्मा को तथा अपनी आत्मा को ऐसे लक्षण के द्वारा पहिचानना चाहिए जो दोनों के द्रव्य-गुण-पर्याय में मिले, ऐसा

लक्षण तो एकमात्र चेतना ही है। अतः चेतना अर्थात् ज्ञाता दृष्टा स्वभाव की मुख्यता से अरहन्त के आत्मा को समझेंगे तो उनका द्रव्य भी चेतन, चेतना गुण भी चेतन तथा उनकी पर्याय भी चेतना को ही प्रगटाती हुई है। अर्थात् उनको द्रव्य से देखो तो ज्ञाता, गुण से देखो तो ज्ञान दर्शन स्वभाव और पर्याय से देखो तो जानने रूपी कार्य (परिणमन) इसप्रकार तीनों ही ज्ञान स्वरूपी हैं। इस ही दृष्टि से अपने आत्मा को देखो तो मेरा भी आत्मा तो ज्ञाता स्वभावी, गुण से देखो तो ज्ञान स्वभावी तथा पर्याय से देखो तो ज्ञान के परिणमन करती हुई जानन पर्याय, इसप्रकार निश्चय से दोनों में अन्तर नहीं रहता। यह ही वास्तव में अपने आत्मा को जानने की विधि है, जिसकी ओर आचार्यश्री का संकेत है।

अब ज्ञान के स्वभाव पर विचार करें तो ज्ञान का तो स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक है। अतः ज्ञान की पर्याय जब भी उत्पन्न होती है, स्व को स्व के रूप में एवं पर को पर के रूप में जानती हुई ही उत्पन्न होती है। यह जो ज्ञानस्वभाव है वह तो अरहन्त की आत्मा में तथा अज्ञानी की आत्मा दोनों में एक समान रूप से ही कार्य करता है। साथ ही ज्ञान पर के पास गये बिना तथा पर की ओर सन्मुखता करे बिना ही, अपने क्षेत्र में रहकर ही जानने का कार्य करता है; वह भी अपनी योग्यतानुसार। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय की किसीप्रकार की पराधीनता बिना ही स्वतंत्रता से जानने की क्रिया करता है।

विकारी पर्याय का क्षेत्र आत्मा

प्रश्न — विकारी पर्याय भी तो आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में ही उत्पन्न होती है ?

उत्तर — पर्याय का स्वक्षेत्र तो अपना द्रव्य ही होता है, अतः पर्याय की विद्यमानता का निषेध तो किया नहीं जाता ? लेकिन वह पर्याय अपने गुण के स्वभाव से विपरीत परिणमे तो उसकी विपरीतता को उस पर्याय का स्वभाव तो नहीं माना जा सकता ? विपरीतता पर्याय में व्याप्त

होने से विपरीतता के साथ पर्याय का भी निषेध करना पड़ता है। इसलिए विपरीतता का अभाव करने के लिए पर्याय को अपना नहीं माना जा सकता। जैसे अपने घर के चूहों को अपने घर में उत्पन्न होने के कारण घर का सदस्य तो नहीं माना जा सकता। विकारी पर्याय की मेरे क्षेत्र में विद्यमानता तथा मेरे ज्ञान में ज्ञात होने का तो निषेध जिनवाणी में भी नहीं किया गया है, निषेध तो मात्र मेरा मानने का एवं उपादेय बुद्धि रखने का किया गया है। उनकी विद्यमानता होना, आत्मा को कोई हानि नहीं पहुंचाता; अगर विद्यमानता ही बाधक होती तो ज्ञानी को अपनापन करा देती तथा केवली भगवान के ज्ञान में ज्ञात होने पर भी उनको हानि कर देती। लेकिन उसको अपना मानने का फल तो मिथ्यात्व होगा एवं उसमें जितने अंश में ज्ञानी भी अटकेगा तो चारित्र मोह का बंध उसको भी अवश्य होगा लेकिन ज्ञान में ज्ञात हो जाने मात्र से तो कोई बंध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि पर्याय की विपरीतता से किंचित् मात्र भी संबंध आत्मा का घातक है।

प्रश्न — पर्याय में से विपरीतता को ही दूर कैसे किया जा सकेगा?

उत्तर — विकृति अन्य के संयोग से उत्पन्न होती है। इसी कारण विकार को जिनवाणी में संयोगीभाव कहा गया है। अत: पर्याय में जो विपरीतता दिखती है, वह तो संयोगजनित ही है; आत्मा उसका उत्पादक नहीं है। अतथ संयोग का अभाव होने पर संयोगी भाव का स्वत: अभाव हो जावेगा, फलत: आत्मा का स्वाभाविक परिणमन होता रहेगा।

प्रश्न — किसी द्रव्य का किसी के साथ संयोग तो हो नहीं सकता फिर इन भावों को संयोगीभाव कैसे कहा जाना चाहिए?

उत्तर — किसी भी वस्तु में, अन्य वस्तु का अंश भी मिल नहीं सकता, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को छोड़कर कोई वस्तु अन्य में प्रवेश कर ही नहीं सकतीं। लेकिन ज्ञान का स्वभाव सामर्थ्य ऐसा है कि वह स्वक्षेत्र में रहकर ही स्व को जानते हुए उसी में विद्यमान परज्ञेयों के

ज्ञेयाकारों को भी जान लेता है। जबकि वे तो अपने-अपने स्वक्षेत्र में ही विद्यमान रहते हैं। लेकिन ज्ञान अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार अपने स्वक्षेत्र में रहकर निकटवर्ती अथवा दूरवर्ती ज्ञेयों को भी जान लेता है। लेकिन केवली भगवान स्व के साथ समस्त ज्ञेयों को जानते हुए भी किसी के साथ संयोग नहीं करते। इससे सिद्ध है कि मात्र जानना न तो संयोग करता है और न संयोगी भाव ही उत्पन्न करता है।

प्रश्न — ऐसी स्थिति में संयोगीभाव कैसे हो जाते हैं?

उत्तर — अज्ञानी की पर में स्वामित्वबुद्धि होने से जब ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उस समय वह ज्ञात ज्ञेयों का अपने में संयोग नहीं होने पर भी संयोग मान लेता है। फलस्वरूप उसको मोह-राग-द्वेषादि भाव होने लगते हैं। यह है वास्तविक स्थिति अज्ञानी आत्मा के संयोग करने की। इसी का समर्थन समयसार कलश १६४ से प्राप्त होता है। श्लोक निम्नप्रकार है —

श्लोक — न कर्म बहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा न चिदद्विधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बुधहेतुर्नृणाम्॥ १६४॥

उपरोक्त कलश की अन्तिम दो पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि उपयोग रूपी भूमि में, रागादि को (जो ज्ञान में ज्ञात हुए हैं) भलेप्रकार से लाकर उनके साथ एकत्व कर लेता है, एकमात्र वही अर्थात् रागादि के साथ एकत्व करना ही वास्तव में बंध का कारण है।

इसके अतिरिक्त समयसार गाथा ३४४ की टीका के अन्तिम पैरा से भी उपरोक्त आशय प्राप्त होता है। टीकार्थ निम्न है —

टीकार्थ — "इसलिए ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञान स्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य

होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञान रूप ज्ञान परिणाम को करता है।"

उपरोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि पर्याय में व्यक्त हुए विकारीभाव (विपरीताा) तो पर के संयोग जनित संयोगीभाव है। जो पर के साथ एकत्व (अपनापन) करने से उत्पन्न होते हैं। अगर उनके साथ एकत्व नहीं करे तो ज्ञान में ज्ञात हो जाने मात्र से संयोग नहीं हो जाता, अपना नहीं मानने से स्वतः गौण (उपेक्षित) रह जाते हैं। अतः स्वभाव दृष्टि में तो उनका कोई स्थान नहीं है। इस दृष्टि से मेरी आत्मा और अरहन्त की आत्मा में कोई असमानता है ही नहीं।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आत्मा की पर्याय का क्षेत्र तो आत्मा ही है लेकिन विकार का स्वक्षेत्र आत्मा नहीं है संयोग है। क्योंकि संयोग रहने तक विकार भी रहता है, संयोग का अभाव होने के साथ विकार का भी अभाव हो जाता है; लेकिन पर्याय का अभाव नहीं होता। वह तो द्रव्य के साथ ही रहती है। इसलिए विकार को मेरा नहीं माना जा सकता। फिर भी विकार का पर्याय में अस्तित्व देखकर, जिनवाणी में व्यवहार से विकार को आत्मा का कहा है। ऐसा कहने में भी आचार्यश्री का उद्देश्य आत्मा में से विकार का अभाव करना ही है। क्योंकि जो विकार का करनेवाला अपने को नहीं मानेगा तो दूर ही क्यों करेगा? रागादि अभाव हुए बिना पर्याय में सिद्धपना प्रगट हो नहीं सकता। इसप्रकार आचार्यों ने विकार का कर्तृत्व स्वीकार कराकर, नाश कराने का उपाय भी बताया तथा सिद्ध स्वभावी ध्रुव आत्मा की दृष्टि कराकर, आत्मा को अरहन्त के समान सिद्ध करके, उसमें अपनापन करके अरहन्त बनने का उपाय भी बताया ।

आत्मा का द्रव्य तो अरहन्त समान ही है

पहले चर्चा करते आये हैं कि शुद्ध निश्चयनय से तो मेरा ध्रुवधाम अरहन्त जैसा ही है। अब उसे और दृढ़ करते हैं। उक्त गाथा की टीका

में कहा है कि 'अरहन्त का स्वरूप, अन्तिम ताव को प्राप्त सोने की भांति परिस्पष्ट (सभी प्रकार से स्पष्ट) है, इसलिए उसका ज्ञान होने पर सभी आत्मा (निज आत्मा) का ज्ञान होता है।' अर्थात् अपने आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है।

भगवान अरहन्त के आत्मा की पर्याय प्रगट है। द्रव्य की समस्त सामर्थ्य जो भी थीं, पूरी की पूरी पर्याय में प्रगट हो गयी। द्रव्य का कार्य तो पर्याय द्वारा ही प्रगट होता है। अतः उनकी प्रगट पर्याय के माध्यम से ही उनके द्रव्य का सामर्थ्य, हमारे ज्ञान की पकड़ में आ जाता है। ऐसी स्थिति में जब हम अरहन्त की आत्मा को पर्यायार्थिकनय से देखेंगे तो भी और द्रव्यार्थिकनय से देखेंगे तो भी एक जैसी ही है। इसप्रकार अरहन्त के आत्मा के ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और श्रद्धा जाग्रत होती है कि आत्मद्रव्य जहाँ कहीं भी हो कैसी भी स्थिति में हो, वह स्वभाव से तो अरहन्त जैसा ही है।

इसप्रकार अरहन्त के आत्मा को समझने से हमारे आत्मा का स्वभाव समझ में आ जाता है, क्योंकि उनकी पर्याय में जो भी प्रगट हुआ है, वह आत्मा में विद्यमान था, तब ही तो प्रगट हो सका है। वह स्वभाव ही शक्ति रूप में हर एक आत्मा में विद्यमान रहता है। इस न्याय से जब हम अपनी आत्मा को खोजेंगे तो हमको पर्याय को अत्यन्त गौण करके स्वभाव (ध्रुवभाव) की खोज करनी होगी। पर्याय को गौण करने पर शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (निश्चयनय) का विषयभूत जो ध्रुवभाव है, वह ही श्रद्धा का विषय रह जावेगा।

इसप्रकार जब ध्रुवभाव की ओर दृष्टि करते हैं तो वहाँ तो कोई प्रकार का विकार अथवा अपूर्णता आदि कुछ है ही नहीं, वह तो उन सभी शक्तियों का भण्डार है, जो भगवान अरहन्त में प्रगट हो चुकी हैं। वह तो ज्ञान की पूर्णता सहित परम वीतरागी निराकुल शान्ति का भण्डार रूप अनुपम तत्त्व है, ऐसा श्रद्धा में प्रगट होता है। उस भण्डार में से अनन्त

काल भी ऐसी ही पर्यायें उत्पन्न होती रहें तो भी उसमें किंचित् भी कमी आने वाली नहीं है। समयसार में वर्णित ४७ शक्तियाँ आदि अनन्त शक्तियाँ ध्रुवतत्त्व के खजाने में भरी हैं। वे सब अरहन्त भगवान की आत्मा में प्रगट हो रही हैं और मेरे भण्डार में वर्तमान में भरी हुई हैं। इसप्रकार अनन्त महिमावन्त है मेरा यह ध्रुवतत्त्व। जब भी मैं पर्याय को गौण कर द्रव्यार्थिकनय द्वारा अपने ध्रुवभाव को विषय करूँ तो विद्यमान दिखता है और विश्वास में भी आता है और श्रद्धा जाग्रत हो जाती है कि मैं तो वर्तमान में ही अरहन्त जैसा हूँ। मात्र पर एवं एक समयवर्ती पर्याय में अहंपना स्थापन करना तो अत्यन्त विपरीतता है। इसप्रकार द्रव्य की अपेक्षा मैं तो अरहन्त ही हूँ, ऐसी श्रद्धा प्रगट होकर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है।

चेतन ही अन्वय रूप से प्रसरता है

आचार्यश्री ने अरहन्त की आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को समझने का उपाय भी उक्त टीका में बताया है।

टीका के उक्त अंश द्वारा आचार्य महाराज ने पहले तो अन्वय के सिद्धान्त को दृष्टान्त बनाकर प्रस्तुत किया है। अन्वय का वाच्यार्थ होता है कि जो सबमें प्रवाहित होता रहे; जैसे एक माला बनाने में 'सूत्र' जिसमें माला के सब मणियों को पिरोया जाता है वह 'सूत्र' अन्वय के स्थान पर सब मणियों में एक रूप से प्रवाहित होता है, इसलिए उसको अन्वय कहा गया है।

उपरोक्त टीका के दोनों चरणों में द्रव्य और पर्याय के अन्तर को समाप्त करने के लिये अन्वय को मुख्य बनाया है। इसमें प्रथम अन्वय का प्रयोग सिद्धान्त समझाने के लिये अरहन्त की आत्मा में किया है यथा— 'वहाँ अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय का विशेषण वह गुण है और अन्वय के व्यतिरेक 'भेद' वे पर्यायें हैं।' दूसरी बार उसी अन्वय का प्रयोग अपनी आत्मा को समझाने के लिए पुनः किया है यथा- 'यह 'चेतन' है, इसप्रकार का अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहने वाला 'चैतन्य'

विशेषण वह गुण है और एक समय मात्र की मर्यादा वाला काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय व्यतिरेक वे पर्यायें हैं जो कि चिद्विवर्तन की ग्रन्थियां हैं।' इसप्रकार चेतन ही स्वयं प्रवाहित होकर पर्याय तक प्रसरा है, ऐसा अभिप्राय आचार्यश्री का इस टीका में स्पष्ट झलकता है।

'अन्वय' शब्द का भाव तत्वार्थराजवार्तिक के अध्याय ५ सूत्र नं. २ पृष्ठ ४३६ में निम्नप्रकार प्रस्तुत किया है —

'स्वजात्यपरित्योगेनावस्थितिरन्वयः।'

अर्थ — 'अपनी जाति को न छोड़ते हुये, उसी रूप में स्थित रहना अन्वय है।'

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर उपर्युक्त कथन को समझें तो स्पष्ट होता है कि आत्मा अपने चेतन स्वभाव अर्थात् जाति को छोड़े बिना, चेतन रूप में ही निरन्तर अर्थात् हर पर्याय में उपस्थित रहे, वह अन्वय है। आचार्यश्री ने इसही को उपरोक्त टीका में स्पष्ट किया है कि अन्वय वह चेतन द्रव्य है, द्रव्य कैसा है? कि चैतन्यरूपी जाति अर्थात् विशेषण वाला है और उस द्रव्य की हर समय नवीन उत्पन्न होती हुई पर्यायें हैं, वे उस चैतन्यरूपी द्रव्य की ही गांठें हैं अर्थात् एक-एक समय की अपेक्षा हर समय वह चैतन्य का ही परिणमन हो रहा है। अपनी जाति अर्थात् चेतना स्वभाव को छोड़े बिना हर एक पर्याय में प्रवाहित होता हुआ चेतन ही प्रकाशमान है। इसप्रकार द्रव्य से अथवा पर्याय से देखो तो मात्र वह चेतन ही हर समय प्रवाहित होता हुआ दिखता है। हर समय ज्ञायक ही ज्ञायक प्रकाशित हो रहा है।

उक्त अन्वय के सिद्धान्त के माध्यम से अज्ञानी आत्मा को भी स्पष्ट समझ में आवेगा कि मेरा आत्मा भी चेतना स्वरूप ही है। विकार जो पर्याय में विद्यमान हैं, वह अन्वयी ऐसे द्रव्य में नहीं हैं एवं अन्वय के विशेषण जो गुण उनमें भी नहीं मिलता तथा ज्ञान की पर्याय में भी नहीं है। श्रद्धा गुण एवं चारित्र गुण की एक समय मात्र की पर्याय में ही उत्पन्न होकर विनष्ट होता रहता है। ऐसी स्थिति में उसको आत्मा का स्वरूप

कैसे माना जा सकता है? स्वरूप तो वही हो सकता है जो अनादि से अनन्त काल तक द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में सदैव विद्यमान रहे।

भगवान की आत्मा में चेतना ही अन्वय रूप से द्रव्य में, गुण में एवं पर्यायों में भी सदैव प्रवाहित होता रहता है; लेकिन मिथ्यात्व रागादि का तो अंश भी नहीं रहता, क्योंकि द्रव्य में तो उनका अस्तित्व है नहीं, लेकिन चेतना का तो कभी किसी भी स्थिति में नाश नहीं होता। अतः सब प्रकार से चेतना ही आत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है।

अज्ञानी की आत्मा में मिथ्यात्व, रागादि विद्यमान वर्तते हुए भी चेतना तो उनको भी जानते हुए उनसे ऊर्ध्व (मुख्यपने) वर्तती हुई, अनुभव में ज्ञात हो रही है। इसप्रकार मिथ्यात्व रागादि के वर्तते हुए भी, चेतना तो उनको भी भेदती हुई, अन्वय रूप से प्रवाहित होती हुई अनुभव में आती है। अतः चेतना ही आत्मा को पहिचानने एवं समझने का एकमात्र लक्षण है।

इसप्रकार अन्वय के सिद्धान्त द्वारा भगवान अरहन्त एवं सिद्ध की आत्मा को ज्ञान में लूँ तो चेतन ही द्रव्य, चेतन के विशेषण भी चेतन तथा चेतन का ही समय-समयवर्ती परिणमन सभी में एक चेतन ही प्रवाहित होता हुआ, अभेदआत्मा ही निर्णय में आता है। उसीप्रकार अन्वय के सिद्धान्त द्वारा हमारी आत्मा को भी समझने का प्रयास करें तो हमको भी आत्मा में एक चेतन ही प्रवाहित होता हुआ ज्ञात हो सकेगा। द्रव्य तो चेतन रूप है ही और उस चेतन के विशेषण (गुण) उसमें भी वह चेतन तथा चेतन का परिणमन अर्थात् समय-समयवर्ती पर्यायों में भी चेतन ही प्रवाहित होता हुआ ज्ञात हो रहा है। अर्थात् अन्वय की दृष्टि से देखने पर द्रव्य भी, चेतन, गुण भी चेतन तथा पर्याय भी चेतन; इसप्रकार तीनों में एक चेतन ही प्रवाहित होने से द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद भी निरस्त होकर मुझे तो मेरा आत्मा, एकमात्र अभेद चैतन्य स्वरूप ही ज्ञात होता है। इसप्रकार भगवान अरहन्त अथवा सिद्ध जैसा ही मेरा आत्मा मुझे विश्वास में आ जाता है।

उपर्युक्त स्वभावी आत्मा मानने में मुझे पर्याय में वर्तता हुआ रागादि सबसे बडा बाधक लगता हैं ? लेकिन समझना चाहिए कि वे रागादि तो संयोगीभाव हैं पर के साथ संयोग करूँ तो वे उत्पन्न होते हैं और जितने काल तक संयोग रहेगा तब तक ही रहते है। अतः अगर मेरा आत्मा अपने ही चेतनास्वरूपीत्रिकालीध्रुवज्ञायक के साथ एकत्व करे तो, पर के साथ संयोग होगा ही नहीं तो संयोगीभाव स्वतः ही नहीं रहेंगे। अज्ञानी की मिथ्या मान्यता के कारण, पर का संयोग करने से वे उत्पन्न होते थे, अब आत्मा में एकत्व करने से वे भाव उत्पन्न ही नहीं होंगे।

अहंपना स्थापन किसमें करना

उपर्युक्त प्रकार से द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ध्रुवतत्व का एवं पर्यायार्थिकनय के विषयभूत पर्याय का, यथार्थ स्वरूप समझकर, निर्णय करना चाहिए कि मुझे इनमें से किसमें अहंपना स्थापन करना चाहिए कि जिससे मेरा प्रयोजन सुख और शांति प्राप्त हो।

समझ में आता है कि पर्याय का तो जीवन ही एक समय मात्र का है, उसको अपना मानने से तो हर समय जीवन मरण का दुख भोगने वाला आत्मा कैसे शान्त व सुखी रह सकेगा। अतः पर्याय कैसी भी हो मेरा मानने योग्य नहीं है, पर समझकर मात्र उपेक्षा करने योग्य है। श्रद्धा में उपेक्षा उत्पन्न होते ही ऐसी श्रद्धा जागृत हो सकेगी कि त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में अहंपना स्थापन किया था, वह मैं ही हूँ अर्थात् श्रद्धा अपेक्षा मैं तो वर्तमान में ही अरहंत हूँ।

उपर्युक्त मान्यता से लाभ

उपर्युक्त मान्यता जागृत होते ही, त्रिकाली ध्रुवभाव रूप ही अपना अस्तित्व श्रद्धा में आ जाना चाहिये कि मैं यह ही हूं। पर्यायें उत्पन्न होते हुवे भी, उनमें सहजरूप से अहंपने का भाव उत्पन्न होने की शंका उत्पन्न नहीं होना चाहिये। जैसे सहजरूप से ज्ञानी को सात भय उत्पन्न नहीं

होते। समयसार नाटक निर्जरा अधिकार सवैया ४८ में सात भय निम्न बताये हैं —

इहभव भय, परलोक भय, मरण, वेदना जात।
अनरक्षा, अनगुप्ति भय, अकस्मात् भय सात ॥ ४८ ॥

उपर्युक्त भयों के अभाव का कारण यही है कि पूर्व में शरीर को अपना मानने के कारण उपर्युक्त सातों भय, उत्पन्न होते थे, लेकिन जब शरीर से अहंबुद्धि हटकर अपने त्रिकाली ज्ञायक में अहंपना हो गया तो, उपर्युक्त भय जैसे मरण होना, वेदना होना आदि - आदि मेरे (ध्रुवभाव) को तो होते नहीं और जिसमें हो रहे हैं, वह मैं नहीं, आदि-आदि प्रकार की मान्यता हो जाने से ज्ञानी को तत्संबंधी भयों एवं आकुलता का भी क्रमशः अभाव होता जाता है।

मैं ज्ञायक एवं निराकुल आनंद स्वभावी स्वयं ही हूँ। मेरा स्वभाव स्वपर प्रकाशी होने से, मैं तो सभी ज्ञेयों से तटस्थ रहते हुए, स्व के माध्यम से जानने वाला मात्र हूँ। ज्ञेय में कुछ भी करने धरने का सामर्थ्य अरहंत भगवान के समान मेरे में भी नहीं है। ऐसी श्रद्धा जागृत होने से ज्ञेय मात्र के प्रति उपेक्षाबुद्धि जागृत हो जाती है। ज्ञेयों के ज्ञात होते समय ही वे मेरे में आ गये अथवा मैं उन रूप हो गया ऐसा भ्रम नहीं होता। फलस्वरूप उनके प्रति एकत्व बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तो मिथ्यात्व का उदय भी कैसे होगा? फलतः एकत्वबुद्धि के राग द्वेष भी नहीं होंगे अर्थात् संसार ही खड़ा नहीं होगा।

इसप्रकार उपर्युक्त मान्यता प्रगट होते ही संसार के अभाव की प्रक्रिया का, प्रारंभ हो जाता है।

अरहंत के ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का ज्ञान

भगवान् अरहंत की आत्मा ही यथार्थ आत्मा है। जैसे १०० टंच का स्वर्ण ही यथार्थ स्वर्ण है। शुद्ध स्वर्ण, द्रव्य से स्वर्ण है ही, गुणों का पूर्ण विकास होने से पर्याय में भी वह शुद्ध स्वर्ण ही है। उसीप्रकार

भगवान् अरहंत की पर्याय में जो स्वरूप वर्तमान में प्रगट है वही द्रव्य है, उसी में सभी गुण प्रगट हैं। जैसे सर्वज्ञता, वीतरागता, अकर्ता व आनन्द का भंडार आदि अनंत गुण प्रगट हैं। अतः वास्तविक आत्मा तो अरहंत की आत्मा ही है। मैं भी एक आत्मा हूँ, अतः मुझे विश्वास में जमना चाहिए कि मैं भी वर्तमान में ही अरहंत स्वभावी आत्मा हूँ।

प्रश्न — अरहंत की आत्मा के तो द्रव्य-पर्याय एक से हो गये अतः वे तो शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध हैं। लेकिन मेरी आत्मा का द्रव्य तो अरहंत जैसा होते हुए भी पर्याय में तो उसकी प्रगटता नहीं है।

उत्तर — यह बात सत्य है कि अरहंत का आत्मा तो द्रव्य पर्याय से शुद्ध है। लेकिन हमने तो अरहंत की आत्मा को दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत किया था कि, जिसको अभी अपने स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है, उसको आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जावे। वर्तमान में रागादि है उनका अभाव कर, पर्याय में अरहंत जैसी वीतरागता प्रगट करनी है, ऐसी अंतर में भावना जागृत कर रागादि के नाश करने के उपाय की खोज प्रारंभ कर, उसको अपनाकर, दर्शनमोह का नाश करे तो कार्यकारी होगा। उपर्युक्त कथन तो अपने स्वरूप की श्रद्धा कराने के लिए ही उपयोगी है।

अरहंत भगवान की आत्मा का ज्ञान, अपनी आत्मा की सन्मुखतापूर्वक स्वयं को जानने का कार्य करता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से ज्ञान में विद्यमान परसंबंधी ज्ञेयाकार, भी स्व के साथ जानने में तो आते हैं। साधक का ज्ञान भी अनेकांतपूर्वक स्व को स्व के रूप में परसंबंधी ज्ञेयाकारों को पर के रूप में जानता है। इस जानने की प्रक्रिया के साथ ही ज्ञान जिसको स्व जानता है श्रद्धागुण उसमें अहंपना स्थापित कर लेता है तो ज्ञान अनेकांत स्वभावी होने से परसंबंधी ज्ञेयाकारों में सहज रूप से परपना स्थापित हो जाता है। फलतः स्व में अपेक्षा बुद्धि एवं पर में उपेक्षाबुद्धि होना सहज स्वभाविक है। श्रद्धा ने ध्रुवतत्त्व को स्व के रूप में स्वीकार किया, तत्समय ही चरित्र गुण उस ही में तन्मय

होने लगता है। तत्समय ही आत्मा के अनन्त गुणों का स्वाद-अनुभव आत्मा को प्रगट हो जाता है। परज्ञेयों संबंधी ज्ञेयाकारों के प्रति उपेक्षा बुद्धि होने से उनके प्रति आकर्षण ही समाप्त हो जाता है, अतः जानने का उत्साह ही नहीं वर्तता फलतः उपयोग भी आत्मा में ही वर्तने को चेष्टित रहता है। निर्विकल्प होने पर ज्ञेय परिवर्तन-ज्ञेयार्थ परिणमन नहीं होने से आकुलता एवं रागादि की उत्पत्ति के कारणों का अभाव होने लगता है। अरहंत भगवान की आत्मा उनका पूर्ण अभाव हो जाने से पूर्ण सुखी है। अरहंत भगवान् के ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाने से, अपने आत्मा में तन्मयता के साथ तथा पर संबंधी ज्ञेयाकारों को तन्मयतारहित जान लिया। अतः नहीं जाना हुआ कुछ रहा ही नहीं; अतः वे परमसुखी हैं। इसप्रकार भगवान् अरहंत सर्वज्ञ, वीतरागी, परज्ञेयों के ज्ञायक होते हुए भी अकर्ता स्वभावी, निराकुलस्वभावी अनंत आनंद के भोक्ता हैं।

इसप्रकार के विस्तार सहित अरहंत के स्वरूप को समझकर अपने आत्मा को भी अरहन्त जैसा ही समझना, उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है। इसप्रकार अरहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय के ज्ञान द्वारा अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप अरहंत जैसा ही है यह निःसंदेह, निःशंकतापूर्वक निर्णय में आ सकता है।

अरहन्त जैसा आत्मा मानने का लाभ

उपर्युक्त स्थिति में आत्मार्थी की रुचि का वेग स्वभाव के प्रति आकर्षित हो जाता है तो ज्ञान की पर्याय भी त्रिकाली ध्रुव को जानने के सन्मुख हो जाती है। तब उसके ज्ञान (स्वसंवेदन ज्ञान) श्रद्धान में आत्मा अरहंत जैसा ही दिखाई देगा (प्रतीति में आवेगा) अर्थात् अनुभव में आवेगा। उस समय पर्याय स्वतः गौण रह जावेगी। ऐसा आत्मार्थी ही यह कहने का अधिकारी है कि "मैं वर्तमान में अरहंत हूँ।"

जिस व्यक्ति को आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा जाग्रत नहीं हुई हो तथा पर्याय जितना ही आत्मा को मान रखा हो यथार्थतः उसकी तो रुचि

भी आत्मस्वभाव जानने के सन्मुख नहीं हुई। उसको तो त्रिकाली आत्मा भी दिखाई नहीं देगा।

भगवान् अरहंत सकल ज्ञेयों के ज्ञायक होते हुए भी उनके सम्मुख नहीं होते। आत्मानंद में ही तल्लीन रहते हैं। मेरे आत्मा का स्वभाव उनके जैसा ही होने से, मैं भी स्व-पर का ज्ञाता होकर तथा पर संबंधी ज्ञेयाकार ज्ञान में आने पर भी उनके प्रति परपने की श्रद्धा होने से आकर्षित नहीं होने पर अपनी भूमिकानुसार आत्मानन्द का उपभोग करता रह सकता हूँ। इसप्रकार मोह (मिथ्यात्व) का नाश हो सकता है।

अरहंत जैसा मानने में पर्याय बाधक

प्रश्न — अपनी आत्मा को वर्तमान में अरहंत जैसा मानने में रागी द्वेषी पर्याय बाधक लगती है। वर्तमान विकारी आत्मा को अरहंत समान मानने से तो स्वच्छन्दता का पोषण होगा निश्चयाभास हो जावेगा, ऐसा लगता है?

उत्तर — इस शंका के समाधान के लिए पूर्व में चर्चा कर चुके हैं। फिर भी पुनः संक्षेप में चर्चा करके समझेंगे ।

आत्मा नाम का पदार्थ तो अनंतगुणों का समुदाय रूप, एक द्रव्य है। उस द्रव्य का ही हर समय परिणमन होता है। इसको भी उमास्वामी महाराज ने "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" के द्वारा स्पष्ट किया है कि द्रव्य का हर समय उत्पाद होता है और द्रव्य का ही व्यय होते हुए भी एकरूप ध्रुवपना बना रहता है। द्रव्य अनंत गुणों का समुदाय रूप एक द्रव्य है अतः वे गुण भी अपना-अपना कार्य उसी द्रव्य में करते रहते हैं और उनके भिन्न-भिन्न कार्य हमारे अनुभव में भी आते हैं। जैसे अज्ञान दशा में क्रोध उत्पत्ति के काल में क्रोध का ज्ञान भी हो रहा है, तत्संबंधी आकुलता भी है, क्रोध मैंने किया ऐसी श्रद्धा भी है, उससे तन्मय हो जाता है ऐसा आचरण भी है आदि-आदि अनेक गुणों का कार्य एक ही समय होता हुआ अनुभव में आ रहा है। अतः हर समय द्रव्य के पलटने में अनंत गुणों का पलटना एक साथ ही होता हुआ अनुभव में आता है ।

उपर्युक्त आधार पर फलित होता है कि मेरी आत्मा में भी राग द्वेष वाली पर्याय के साथ ही, उसी समय अन्य अनन्त गुणों की पर्यायें भी उत्पन्न हो रही हैं। रागादि वाली पर्याय तो मात्र चारित्र गुण की एक समयवर्ती संयोगी पर्याय है। वह पर्याय, सारे द्रव्य को कैसे विकारी कर सकती है? उसी समय बाकी रहे अनंत गुण भी कार्य कर रहे हैं जो विकारी हुए ही नहीं, उनको याद भी नहीं करते और न उनके कार्यों को ही देखते हैं। यह तो हमारी देखने की दृष्टि का दोष है। अगर आत्मा ही विकारी हो गया होता तो क्रोध के अभाव के साथ आत्मा का भी अभाव हो जाता? लेकिन क्रोध तो पर्याय में था और पर्याय के व्यय के साथ ही, उसका भी व्यय हो जाता है; फिर भी आत्मा का नाश नहीं होता? इससे सिद्ध है कि पर्याय के विकार से आत्मा विकारी नहीं हो जाता। ऐसा विकार मेरे आत्मा को विकारी कैसे कर सकेगा ?

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो जिस समय रागादि आत्मा में उत्पन्न होते हैं, उसी समय उनको जानती हुई ज्ञान पर्याय भी उत्पन्न होती है। दोनों के उत्पादन का स्थान आत्मा के असंख्य प्रदेश तथा काल भी एक ही है, मात्र भावों में अन्तर है। ज्ञान का भाव जानना है और चारित्र का रागादि है। अत: एक ही द्रव्य में एक समय दो गुणों की पर्यायें एक साथ उत्पन्न होने पर भी, अज्ञानी को तो क्रोध की पर्याय ही दिखती है। उस पर्याय जितना ही आत्मा को मान लेता है। लेकिन ज्ञानी को तो ज्ञान की पर्याय का उत्पाद दिखता है। अत: आत्मा को ज्ञायक मानता है।

अज्ञानी ने आत्मा का स्वभाव कभी समझा ही नहीं। आत्मा का स्वभाव तो जानना है, वह अनादि अनंत आत्मा के साथ रहता है। अगर उसी तरह क्रोधादि भी स्वभाव होता तो आत्मा के साथ रहना चाहिए था? लेकिन उसका तो अभाव हो जाता है, फिर भी उसका ज्ञान तो लंबे काल तक बना रहता है। क्रोध की उत्पत्ति के समय आकुलता होती है। लेकिन स्मृति में आने पर, क्रोध का ज्ञान तो आता है, फिर भी ज्ञान के साथ क्रोध नहीं आता। अत: सिद्ध है कि ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है

लेकिन क्रोध तो विभाव ही है ।

अज्ञानी को उससे विपरीत क्रोध के साथ प्रीति एवं ज्ञान के साथ अप्रीति होती हुई दिखती है। यहीं कारण है कि उसको उसी समय उत्पन्न होने वाली ज्ञान की उत्पत्ति नहीं दिखती। यही पर्यायदृष्टि है। यथार्थ समझ उत्पन्न होने पर, ज्ञान से प्रीति जाग्रत होकर, क्रोध के स्थान पर ज्ञान उत्पन्न होता हुआ दिखने लगेगा एवं आत्मा ज्ञानी ही दिखेगा, क्रोधी नहीं।

तीसरा दृष्टिकोण यह है कि आत्मा के अन्दर अनंत गुण विद्यमान हैं, उनमें ही ज्ञान नाम की शक्ति है अतः ज्ञान की पर्याय जानने का कार्य करती हुई आत्मा में अनादि अनंत काल पर्यन्त अनवरत रूप से होती ही रहती है। इसी प्रकार यदि क्रोधादि भाव होने की शक्ति भी आत्मा में होती तो उसकी भी उसी तरह की पर्याय निरंतर होती रहनी चाहिये थी। लेकिन ऐसा नहीं होता। चारित्र गुण का यथार्थ कार्य तो स्वद्रव्य में लीन रहकर वीतरागता का उत्पादन करना है। लेकिन क्रोधादि का उत्पादन हो रहा है। अतः उत्पाद का कारण जानना चाहिये।

रागादि की उत्पत्ति का कारण

अज्ञानी आत्मा हर समय परज्ञेय के साथ एकत्व करता है, फलतः रागद्वेष की उत्पत्ति भी करता रहता है। इस प्रकार रागद्वेष अनादिकाल से चलता चला आ रहा है। इसी कारण आत्मा निरंतर रागद्वेषी ही दिखता है। ज्ञान की भी ऐसी कमजोरी है कि एक समय का परिणमन ज्ञान की पकड़ में नहीं आता। हमारा उपयोग ही असंख्य समय का है। जब ज्ञान एक ज्ञेय को छोड़कर अन्य ज्ञेय को विषय बनाता है तो उसमें असंख्य समय लग जाते हैं। इसलिए अज्ञानी जब भी आत्मा की ओर लक्ष्य करता है, तो अनवरत रूप से राग द्वेष की संतति चलते रहने से और आत्मा पर्यायदृष्टि होने से आत्मा रागी द्वेषी ही दिखता है। लेकिन त्रिकाली आत्मा तो कभी रागी द्वेषी होता नहीं। पर्यायदृष्टिवंत को तो पर्याय ही

दिखती है। इस संबंध में समयसार गाथा ३४४ की टीका के अंतिम पैराग्राफ में अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने कहा है कि —

"इसलिये ज्ञायकभाव (त्रिकालीभाव) सामान्य अपेक्षा से ज्ञान स्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में (अपने रूप में) जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव-त्रिकाली भाव) विशेष अपेक्षा से (पर्याय की दृष्टि से) अज्ञानरूपज्ञान परिणाम (विकारी पर्याय) को करता है।"

यथार्थत: रागद्वेषादि भावों का उत्पादन, ज्ञेय-ज्ञायक की एकत्व बुद्धि के कारण पर्याय में ही होता रहता है। त्रिकाली भाव तो त्रिकाली होने से पर्याय से अछूता ही रह जाता है। मैं तो त्रिकाल स्थाई रहने वाला अनुभव में आ रहा हूँ। अत: मैं रागी द्वेषी नहीं हो सकता। फिर भी पर्याय द्रव्य में होने से ज्ञान में तो आती ही है, लेकिन अज्ञानी की श्रद्धा उसी समय मानने लगती है कि मैं रागी हो गया, लेकिन ज्ञान ने उसका भी ज्ञान कर लिया। लेकिन फिर भी अज्ञानी को आत्मा रागी द्वेषी दिखता है। यथार्थत: रागद्वेष का उत्पादक तो ज्ञेय-ज्ञायक के भेदविज्ञान का अभाव ही है ।

इसप्रकार यह श्रद्धा-बलवती हो जाती है कि मेरा आत्मा अरहंत के समान ही है और पर्याय में रागद्वेष है, उसका उत्पादक ज्ञेय ज्ञायक के भेदज्ञान का अभाव ही है। इन सभी कारणों से स्पष्ट है कि पर्याय की स्थिति का यथार्थ ज्ञान मेरी आत्मा को अरहंत जैसा मानने में बाधक नहीं हो सकता ।

अन्य अपेक्षा से भी विचार करें कि —"जब वर्तमान ज्ञान की पर्याय में क्रोध का ज्ञान आता है, तो भेद ज्ञान की शून्यता के कारण मैं अपने आपको क्रोधी मानने लगता हूँ।" उस ही समय अगर मेरी ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जावे कि "मैं तो क्रोध करने वाला नहीं, वरन् क्रोध को जानने वाली ज्ञान पर्याय का करने वाला हूँ", तो अनुमान लगाइये कि

उस समय आत्मा क्रोधी दिखेगा या ज्ञान करने वाला दिखने लगेगा? उस समय भी क्रोध तो था। अतः स्पष्ट है कि क्रोध तो पर्याय में था। त्रिकाली जानन स्वभाव के ज्ञान में आते ही उसका अभाव ही विश्वास में आता है। इसप्रकार सब अपेक्षाओं से सिद्ध है कि "जाननस्वभाव ही आत्मा है अज्ञानी को भेद ज्ञान से शून्य होने से मात्र क्षणिक पर्याय में क्रोध उत्पन्न होता है, जो कि त्रिकाली से भिन्न है'। अतः आत्मा तो अरहंत समान ही है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों से स्पष्ट है कि एक समय की पर्याय जैसा "मैं न तो कभी था; न अभी हूँ और न कभी हो सकूँगा।" मैं तो वर्तमान में ही अरहंत जैसा ही हूँ।

यह विश्वास में आना चाहिए कि मैं तो त्रिकाल रहने वाला चैतन्य तत्त्व हूँ और वह चेतन तत्त्व तो अरहंत जैसा ही है, साथ में वर्तने वाली एक समयवर्ती पर्याय का उत्पादक वह पर्याय ही है। क्योंकि वह एक समय का सत् है, मैं त्रिकालीसत् हूँ, मैं उसका उत्पादक नहीं हूँ। अतः वह मेरी नहीं है, मेरा उसके साथ कोई संबंध हो तो मात्र परज्ञेय रूप में जानना ही है। जिसप्रकार समस्त परज्ञेय ज्ञान के लिये उपेक्षित ज्ञेय हैं उसीप्रकार ये पर्याय भी है। मैं तो अरहंत जैसा ही हूँ। ऐसा निर्णय में आना चाहिये ।

उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तक भाग-३ का यह उपसंहार है। इस पुस्तक का विषय "आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय यथार्थ निर्णय ही है" यह है।

इसमें यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि निर्णय का केन्द्र बिन्दु तो एकमात्र त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व जो अरहंत के जैसा ही है, "वह मैं हूँ" ऐसा निर्णय में आना चाहिये। इसी को प्रवचनसार गाथा ८० के आधार

पर समझाने की चेष्टा की गई है।

यह विषय, ऐसे आत्मार्थी को कल्याणकारी हो सकेगा, "जिसको एकमात्र अपने आत्मकल्याण की तीव्रतम जिज्ञासा हो।" अनादि से चला आ रहा आकुलतारूप भावसंसार के परिभ्रमण से जो थक गया हो और अब निराकुलतारूपी आत्मिकशांति का मार्ग प्राप्त करने की तीव्रतम प्यास जगी हो। जिसने इस मनुष्य जीवन के बचे हुए क्षणों का पूरा पूरा उपयोग करके, जीवन को सार्थक बनाने के लिये कमर कस ली हो, ऐसा जीव इसके माध्यम से यथार्थ मार्ग समझकर, सत्यार्थ पुरुषार्थ के द्वारा, आत्मानुभूति प्राप्त कर, कृतकृत्य हो सकेगा ।

जगत के अनन्तानन्त द्रव्यों में खोई हुई अपनी आत्मा को इस पुस्तक के प्रथम भाग में बताये गये मार्ग द्वारा, सबसे भिन्न समझकर, अपने आत्मद्रव्य में ही अहंपना स्थापन कर, श्रद्धा में अन्य सबसे संबंध तोड़ लिया है। तथा अनन्तानन्त द्रव्यों को मात्र परज्ञेय के रूप में उपेक्षणीय मानकर उनके प्रति कर्तृत्वबुद्धि के अभिप्राय को समाप्त कर, एकमात्र ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्य में ही अहंपना स्थापन करने को प्रयत्नशील है तथा स्वपरप्रकाशी ज्ञान स्वभाव का स्वरूप समझकर, अपने आत्मद्रव्य के अनुसंधान का ध्येय बना लिया है। ऐसे आत्मार्थी को आत्मानुसंधान का मार्ग भाग २ से प्राप्त होगा।

छहों द्रव्यों से भिन्न, अकेला अपना ज्ञान स्वभावी आत्मा, अपनी विकारी पर्यायों के बीच ऐसा छुपा हुआ है, कि कहीं जानने में ही नहीं आ रहा है। जब भी आत्मा को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं तो रागी द्वेषी आदि के रूप में ही आत्मा दिखता है। इस समस्या का हल इसके भाग-२ में किया गया है ।

भाग-२ में मोक्षमार्ग में पाँच लब्धियों की उपयोगिता, चारों अनुयोगों के अर्थ समझने की पद्धति, यथार्थ तत्त्व निर्णय का महत्व, आदि विषयों

द्वारा तत्त्व निर्णय की आवश्यकता सिद्ध की है। सात तत्त्वों के स्वरूप का यथार्थ मर्म समझाकर, उनमें एकमात्र त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व तो मैं हूँ, तथा अन्य जितने भी पदार्थ रह गये वे सब मेरे लिये ज्ञेयरूप अजीव तत्त्व हैं, तथा मेरी ही पर्यायों में आस्रव एवं बंध तो हेय तत्त्व है तथा संवर निर्जरा उपादेय तत्त्व है तथा मोक्ष तत्त्व तो परमउपादेय तत्त्व है आदि-आदि कथनों के माध्यम से अपनी पर्यायों में छुपी आत्मज्योति को भिन्न समझने का मार्ग बताया गया है। जगत के समस्त पदार्थों, तथा मेरे अंदर होने वाली अपनी ही पर्यायों को, स्थाई ध्रुवभाव में अहंपना स्थापन कराकर, सबसे ज्ञेयज्ञायक संबंध के यथार्थज्ञान द्वारा, भेदज्ञान कराया गया है। साथ ही निश्चय के साथ यथार्थ व्यवहार रहता ही है, मोक्षमार्ग में दोनों की अनिवार्यता के साथ-साथ विरोधीपना किस प्रकार है आदि-आदि अनेक विषयों के द्वारा यथार्थ ज्ञान कराकर, अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव में अहंबुद्धि किस प्रकार जाग्रत हो ऐसी चर्चा की गई है।

प्रस्तुत भाग-३ में आपने भली प्रकार अध्ययन किया है कि आत्मानुभूति प्राप्त करने का अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ, एक यथार्थ निर्णय ही है। पण्डित टोडरमलजी ने भी कहा है कि "मोक्षार्थी का कर्तव्य तो एकमात्र तत्त्व निर्णय का अभ्यास ही है" करणलब्धि के पूर्व पुरुषार्थ भी यही होता है कि "उस तत्त्व निर्णय में उपयोग को तदरूप होकर लगाये", "उसके फलस्वरूप उसको आत्मानुभूति प्राप्त होगी।" ऐसा निर्देश पण्डितजी साहब का है। उक्त कथन मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए यथार्थ निर्णय की महत्ता एवं सर्वोत्कृष्ट आवश्यकता सिद्ध करता है। यथार्थ निर्णय में ही ऐसा सामर्थ्य है कि उसके फलस्वरूप श्रद्धा में यथार्थता प्रकट हो सकती है। अत: जैसे भी बने वैसे आत्मार्थी को अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय कर त्रिकालीभाव में "यह ही मैं हूँ" ऐसा दृढ़तम विश्वास प्रकट करना चाहिये। "अयिकथमपिमृत्वा तत्व कौतुहली-सन्" अर्थात "किसी भी प्रकार, मरकर भी एक बार तत्त्व को पहिचानने का कोतुहली तो बन" आदि-आदि के कथनों से आचार्यें ने इस ही तथ्य

को पुष्ट किया है। ऐसा निर्णय करने की विधि प्रस्तुत पुस्तक में बताई गई है!

निर्णय करने के लिये महत्वपूर्ण विषय है कि हमारे निर्णय का विषय क्या हो? अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझना ही एकमात्र निर्णय का विषय है। अतः आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने के लिये भगवान अरहंत की आत्मा को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत कर, आत्मा का स्वरूप समझाने वाली प्रवचनसार की गाथा ८० के माध्यम से, आत्मा के स्वरूप को समझने की विधि इस पुस्तक में बताई गई है। उसके द्वारा विस्तारपूर्वक आत्मा का स्वरूप समझाया गया है। मेरी आत्मा त्रिकाल अनंतगुणों के सामर्थ्य से परिपूर्ण परम वीतरागी अरहंत भगवान के समान है। भगवान अरहंत का ज्ञान अपने आत्मा में बसे अनंतगुणों के समुदाय रूप निज आत्मा को तन्मय होकर जानता है, साथ ही जगत के अन्य पदार्थों को, तन्मय हुए बिना मात्र परज्ञेय के रूप में जानता है। परज्ञेयों को भी स्व में नास्ति के रूप में जानता है।

भगवान अरहंत की आत्मा परज्ञेयों के ज्ञान के समय उनके प्रति किंचित् मात्र भी आकर्षित नहीं होती। पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के संवर द्वार के सवैया २ में कहा है कि —

"आतमको अहित अध्यातमरहित ऐसौ,
आस्रव महातम अखंड अंडवत है।
ताकौ विसतार गिलिबेकौ परगट भयौ,
ब्रह्मंडकौ विकासी ब्रह्मंडवत है॥
जामैं सब रूप जो सब मैं सबरूपसौ पै, पदार्थों
सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है।.
साहे ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है॥ २॥"

अर्थ — "जो आत्मा का घातक है और आत्म-अनुभव से रहित है ऐसा आस्रवरूप महाअंधकार अखंड अंडा के समान जगत के सब जीवों को घेरे हुए है। उसको नष्ट करने के लिये त्रिजगत् विकासी सूर्य

के समान जिसका प्रकाश है और जिसमें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तथा आप उन सब पदार्थों के आकार रूप होता है, तो भी आकाश के प्रदेश के समान उनसे अलिप्त रहता है, वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध संवर के भेष में है, उसकी प्रभा को हमारा प्रणाम है ॥ २ ॥"

उपर्युक्त प्रकार यह स्पष्ट है कि अरहंत का ज्ञान ज्ञेयों के प्रति किंचित् भी आकर्षित नहीं होता, फलतः रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होती और वे परमवीतरागी रहने से परमसुखी हैं आदि-आदि अनेक अपेक्षाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है कि मेरे आत्मा का स्वभाव द्रव्य-गुण से तो अरहंत के समान है ही। लेकिन पर्याय में भी अरहन्त के समान कैसे हैं? यह भी नयों के प्रयोगपूर्वक अनेक प्रमाणों एवं तर्कों से सिद्ध किया है, निःशंकरूप से ऐसा निर्णय कराने की विधि इसमें बताई गई है।

निःशंक निर्णय प्राप्त करने का उपाय आचार्य श्री उमास्वामी के तत्वार्थसूत्र अध्याय-१ के सूत्र ६ में कहा है कि "प्रमाण-नयैरधिगमः" अर्थात् प्रमाण नय के द्वारा, स्वरूप का यथार्थ निर्णय होता है। अतः निर्णय करने में नय ज्ञान की उपयोगिता कैसे है, यह भी इस पुस्तक में बताई गई है। द्रव्यार्थिकनय पर्यायार्थिकनय, इनका स्वरूप एवं इनका विषय बताते हुये, इनके ज्ञान के माध्यम से अपनी ही पर्यायों की भीड़-भाड़ में छुपी अपनी आत्म ज्योति को द्रव्यार्थिकनय के ज्ञान द्वारा भेदक दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि से निकालकर, भगवान अरहंत के आत्मा की कसौटी से कसकर, अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अहंपना स्थापन करने की विधि समझाई है। साथ ही पर्यायार्थिकनय के विषयभूत अपनी पर्याय एवं अन्य सभी को अपने से भिन्न परज्ञेय जानकर, उनमें से अहंपना दूर कर, उनके प्रति कर्तापने की बुद्धि के अभाव द्वारा उपेक्षाभाव जाग्रत कर, तटस्थ ज्ञाताभाव प्रगट करने का उपाय भी बताया गया है ।

अपने आत्मा के अंदर बसे हुए अनंत गुणों के समुदाय में बसे हुये अद्वैत आत्मस्वरूप की अनुभूति में बाधक भेदबुद्धि है। अतः उसके भी अभाव हुए बिना शुद्धात्मानुभूति प्रगट होना असंभव है। उसके अभाव

करने का उपाय निश्चयनय एवं व्यवहारनय का भी सांगोपांग ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

इसलिए उनका स्वरूप एवं मोक्षमार्ग में उनकी उपयोगिता भी इसमें बतलाई गई है। यथार्थतः निश्चयनय का कार्य व्यवहार का निषेधक बने रहना ही है ऐसा होने पर भी, व्यवहार मोक्षमार्ग में निश्चय का सहचारी बना रहकर भी बाधक कैसे नहीं होता, दोनों की मैत्री भी कैसे बनी रहती है आदि-आदि अनेक विषयों पर भी चर्चा की गई है। इनके यथार्थ निर्णय द्वारा दृष्टि स्पष्ट निर्मल होकर मार्ग के प्रति निःशंकता उत्पन्न हो, ऐसा प्रयास किया गया है। प्रसंगोपात्त पुरुषार्थ की यथार्थ परिभाषा, इन्द्रिय ज्ञान से भी मनजन्य ज्ञान आत्मकल्याण में विशेष बाधक है आदि-आदि विषयों पर भी विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त विषयों के विवेचन के पश्चात् आगामी भाग-४ में शुद्धात्मानुभूति प्रगट करने की विधि पर विवेचन करने का संकल्प है। उसका विषय होगा "यथार्थ निर्णय द्वारा सविकल्प आत्मज्ञान" एवं सविकल्प आत्मज्ञानपूर्वक निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति।

इसप्रकार आत्मार्थी बन्धुओं से निवेदन है कि सम्पूर्ण विषयों को मनोयोग पूर्वक पढ़कर चिंतन, मनन, अध्ययन कर अपने आत्मकल्याण के मार्ग को प्रशस्त करें। इन पुस्तकों की रचना मैंने तो मेरे उपयोग को एकाग्र करने एवं जिनवाणी में रमण कराने के लिये की है, अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहा है लेकिन अगर कोई अन्य साधर्मी बन्धुओं के लिये लाभ का कारण बन सके तो में अपने प्रयास को सफल समझूंगा और प्रसन्नता अनुभव करूंगा।

अन्त में इसी भावना के साथ विराम लेता हूं कि इस कृति की रचना द्वारा उपर्युक्त यथार्थ मार्ग मेरी परिणति में सदा जयवंत रहे एवं सभी पाठकगण भी इसके अभ्यास द्वारा यथार्थ मार्ग प्राप्त करें।

***

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्रमांक	पृष्ठ	संदर्भ ग्रंथ
१.	१.	स्तुति-सकलेज्ञयज्ञायक - पण्डित दौलतरामजी
२.	१५	प्रवचनसार गाथा ८२
३.	१६	प्रवचनसार गाथा ८०-८१
४.	१८	प्रवचनसार गाथा ८० का अर्थ
५.	२६	मंगलाचरण छहढाला एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक
६.	३४	प्रवचनसार गाथा २१ का अर्थ
७.	३५	प्रवचनसार गाथा ४१ का अर्थ
८.	३५	प्रवचनसार गाथा ३९ का अर्थ
९.	७५.	नाटक समयसार निर्जरा ४१
१०.	७८	पञ्चाध्यायी प्रथम अ. तत्त्वसल्लाक्षणिक
११.	८९	नाटक समयसार क. क. २३
१२.	९३	वृहद्द्रव्य-संग्रह गाथा-५७
१३.	९३	परमभाव प्रकाशक नयचक्र
१४.	९३	आलापपद्धति मूलनय
१५.	९४	आलाप पद्धति — निश्चय-व्यवहार
१६.	९४	समयसार गाथा २७२
१७.	९५	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८ से २५७
१८.	९७	आलापपद्धति उपचार
१९.	९८	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८-२४९
२०.	९८	समयसार गाथा ११
२१.	९९	समयसार गाथा ८
२२.	९९	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५२
२३.	१००	पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा ६-७

२४.	१०१	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५३
२५.	१०१	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८-२४९
२६.	१०२	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५०
२७.	१०३	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५०-२५१
२८.	१०४	बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ की टीका
२९.	१०४	पञ्चाध्यायी अध्याय १ श्लोक ५९८
३०.	१०५	द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र श्लोक २६८
३१.	१०७	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९
३२.	१०८	प्रवचनसार गाथा ८० की टीका
३३.	१११	समयसार कलश १६४
३४.	१११	समयसार गाथा ३४४ टीका
३५.	११४	तत्वार्थ राजवार्तिक अ. ५ सूत्र २ पृष्ठ ४३६
३६.	११६	नाटक समयसार निर्जरा -.४८
३७.	१२४	समयसार गाथा ३४४ की टीका
३८.	१२८	नाटक समयसार संवर - २

***